
सुन्दर-साहित्य-ग्रन्थमालाका पहला अंक

मधुप !

विविध भाव प्रकटी-करण, रस पद्यांकित लेख।
होंगे रसिक-प्रवीण जन, सुमन मधुपको देख॥

—०—

रचयिता—

पं० जगन्नारायणदेव शर्म्मा "कविपुष्कर"

रामनगर (काशीराज्य)

प्रकाशक—

वी० पी० गुप्त एण्ड को०

२२, मछुआबाजार ष्ट्रीट, कलकत्ता

प्रथम संस्करण] सं० १९८० वि० [मूल्य ॥) आना

प्रकाशक—

बी॰ पी॰ गुप्त एण्ड को॰,

"माधवी मुद्रणालय"

२२, मछुआबाजार स्ट्रीट, कलकत्ता।

मधुपका सृष्टि-संवाद।

प्रिय पाठको !

इस 'मधुप' के लिखे जानेका कारण, प्रधानतः एक सच्ची घटना है, जिसका उल्लेख सबसे पहले कर देना, मैं अपनी तुच्छ बुद्धिसे अत्यन्त उचित तथा उपयोगी समझता हूं।

एक दिनकी बात है। मैं एक उद्यानमें सघन वृक्षकी शीतल छायाके नीचे बैठा हुआ बड़े प्रेमसे प्राकृतिक-सौन्दर्य-सुखमाके निरीक्षणमें लीन हो रहा था। थोड़ी देरके उपरान्त एक प्रसून-माधुरी-मोहित-मधुकर उड़ता हुआ मेरे दृष्टि-पथमें आया। फिर देखते-ही-देखते, वह गुनगुनाता हुआ पासकी एक गुलाबकी अकेली कली पर बैठ गया। इस दृश्य पर

सेवामें उपस्थित होऊंगा। त्रुटियोंके लिये विशेष क्षमा प्रार्थना।

अन्तमें, मैं अपने माननीय मित्रों तथा हिन्दी हितैषी सुकवि सुलेखक विद्वानोंको हृदयसे धन्यवाद देता हूं, जिन्होंने कि 'मधुप' का प्रकाशनसे पूर्व ही, मेरे अनुरोधसे अवलोकन कर सम्मति प्रदान कर अनुग्रहीत करनेकी कृपा की हैं।

॥ शुभम् ॥

विनीत—
जगन्नारायणदेव शर्म्मा।

प्रकाशकका प्राक्कथन

यह बात निर्विवाद सर्वसम्मत है, कि इस शताब्दीमें मातृभाषा हिन्दीने अपने अपूर्व और उच्च गुणोंके कारण आशातीत उन्नति की है। दिनोंदिन हिन्दी-हितैषियोंकी बढ़ती हुई संख्याको देख कर अत्यन्त आनन्द होता है और आशा होती है, कि यदि ऐसा ही समय-प्रवाह प्रवाहित होता रहा, तो शीघ्र ही वह दिन आयेगा, जब हम इसे राष्ट्रभाषाके समुन्नत सिंहासन पर महारानीके रूपमें देखेंगे।

बहुत दिनोंसे मेरी उत्कट अभिलाषा थी, कि किसी-न-किसी भाँति हिन्दीका कुछ सेवा-कार्य करूँ। अतः इस उद्योगमें निरन्तर चेष्टा करने तथा मित्रवर पण्डित जगन्नारायणदेवजी शर्म्माके विशेष उत्साहित करने पर यह सुन्दर-साहित्य-ग्रन्थमाला प्रकाशित करना आरम्भ किया है। इस मालाकी

यह प्रथम संख्या उन्हींकी अपार कृपाका उदाहरण है और आगे भी उन्होंने अनेक उत्तम ग्रन्थ देनेका वचन दिया है। अतः मैं उन्हें हृदयसे धन्यवाद देता हूं।

पाठकोंसे विनीत निवेदन यह है, कि यदि इसके छपनेमें कुछ भूलें रह गई हों तो उन्हें सहृदयतासे क्षमा करेंगे; क्योंकि यह पुस्तक बड़ी शीघ्रतामें छापी गई है जिससे भूलोंका रह जाना सम्भव है। साथ ही यदि मुझे आप लोगोंने मुझे इस सेवा-कार्यमें उत्साहित किया और इस मालाके कुछ स्थाई ग्राहक बनानेकी सहायता पहुंचायी, तो मैं शीघ्र ही साहित्यकी उत्तमोत्तम सुन्दर (विशेष कर मौलिक) पुस्तकोंसे इस मालाको सुशोभित करूंगा।

॥ शुभम् ॥

विनीत—

प्रकाशक

समर्पण

हिन्दी-कविता-कलापके परम प्रेमी

मिर्ज़ापुर निवासी

श्रीमान् पं० रामानन्दजी त्रिपाठी

के कर-कमलोंमें यह

"मधुप"

सादर एवं सानुरोध समर्पित है।

मित्रवर ! मधुप गुणोंका दास।
एक प्रेमके सिवा न इसके यहाँ वस्तु है खास।
अगणित इसमें दोष भरे हैं लोग करेंगे हास।
स्वयं समर्पित होनेके हित आया है तव पास।
कर कमलोंका आश्रय देकर पूरी करिये आस।

नम्र निवेदक—

जगन्नारायणदेव शर्म्मा।

प्रेमोपहार

श्रीयुत प्रियवर मित्र महोदय,
मेरे मन-मानसके हंस।
आप समान दूसरा मुझको,
दीखा और नहीं वरवंश॥
तव प्रति बना हुआ था मेरे,
मनमें जो कुछ जैसा भाव।
उसका प्रकटीकरण हेतु है,
इसे ग्रहण करिये कर चाव॥

वे.॥ चि.म.वीरमझशर्मा,

नञ्जु गौडा

नैजाम् इन्कारवा



मधुप पर मत-संग्रह

हिन्दी भूषण बा० शिवपूजनसहायजी, मारवाड़ी सुधार तथा आदर्श-सम्पादक, कलकत्ता—पुष्करजी के पद्योंको पढ़ कर परम प्रसन्नता हुई। कहीं-कहीं तो ब्रजभाषाकी रचनाका सा खासा आनन्द आया, मुझे पद्य परखनेकी प्रतिभा प्राप्त नहीं, पर इतना कह सकता हूँ कि 'मधुप' ने जो भरकर कविपुष्कर जीका प्रतिभा-पराग-पान किया है। आशा है यह 'मधुप' सहृदय-साहित्यकोंके हृदय सरोज पर मँडराता रहेगा। मधुपकी तल्लीनता पर मुग्ध—

पं० हेमचन्द्रजी जोशी, बी० ए०, मारवाड़ी अग्रवाल-सम्पादक, कलकत्ता—कविपुष्करजीका 'मधुप' देख आनन्द प्राप्त हुआ। रसमय वाणीमें आनन्द

लबालब भरा......उसके भीतर कविताका मधु वह मिठास दे रहा है जो गूंगेके गुड़के समान मेरी लेखनीसे बाहर हैं। मैं पं० पुष्करजीको उनकी इस कृति पर बधाई देता हूं।

वाणीभूषण प० श्रवणलालजी महामहोपदेशक, झालरापाटन (राजपूताना)—........'मधुप' में खड़ी बोली होने पर भी मधुरता हैं। यह कविका काव्यकौशल हैं। प्राचीन कवियोंकी भाँति 'मधुप' के प्रत्येक पद्यमें अनूठापन हैं......एक-एक पद्यका विषय पृथक् २ होने पर भी स्पष्टीकरण उत्तमतासे किया गया हैं। सारांश—पुस्तक सब प्रकारसे उपादेय है, तदर्थ कविपुष्करजीको धन्यावाद हैं।

प० श्यामसुन्दर शर्म्मा, व्याकरण-काव्यतीर्थ, कलकत्ता—रतिरीतिवीत वसना, प्रियेव शुद्धाचवाङ् मुदे सरसा। सुखदा सालंकृतिरपि, सुधायुता च कविता मधुपस्य ॥ इसकी कविताओंके विषयमें मैं

इतना साहस पूर्वक कह सकता हूं, कि वे मनोहारिणी हैं। पढ़कर अनिर्वचनीय सुखानुभव हुआ, जो 'कविविलास' अथवा उनके रचे हुये अन्य पद्योंको देख चुके होंगे मेरे इस कथन को अत्युक्ति न समझेंगे। अन्तमें सधन्यवाद... ।

पं० शंकरदयालुजी शर्म्मा, रंगून—'मधुप' यथा नाम तथा गुण हुआ है। मित्रवर कविपुष्करजीको पद्य-प्रवन्ध-प्रणयनमें सर्वतोभावेन सफलता प्राप्त हुई है। इसके लिये सहर्ष—

बा० धर्मचन्द्रजी खेमका 'चन्द्र' रंगून—उक्त सज्जनने 'मधुप' को साद्यन्त पढ़कर अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट की। एक पद्यमें उन्होंने अपनी सम्मति दी थी जो ढूंढ़ने से यथासमय न मिल सकी। खेद!

पं० विजयकृष्णजी शुक्ल, कलकत्ता—'मधुप' हारमोनियय पर गाने योग्य हैं। 'मधुप! कलिका पर क्यों मरते हो।' यह एकही पद्य बेजोड़ हैं। इसके—

लबालब भरा......उसके भीतर कविताका मधु वह मिठास दे रहा है जो गूंगेके गुड़के समान मेरी लेखनीसे बाहर हैं। मैं पं० पुष्करजीको उनकी इस कृति पर बधाई देता हूं।

वाणीभूषण प० श्रवणलालजी महामहोपदेशक, झालरापाटन (राजपूताना)—........'मधुप' में खड़ी बोली होने पर भी मधुरता हैं। यह कविका काव्यकौशल हैं। प्राचीन कवियोंकी भाँति 'मधुप' के प्रत्येक पद्यमें अनूठापन हैं......एक-एक पद्यका विषय पृथक् २ होने पर भी स्पष्टीकरण उत्तमतासे किया गया हैं। सारांश—पुस्तक सब प्रकारसे उपादेय है, तदर्थ कविपुष्करजीको धन्यावाद है।

प० श्यामसुन्दर शर्म्मा, व्याकरण-काव्यतीर्थ, कलकत्ता—रतिरीतिवीत वसना, प्रियेव शुद्धोचवाङ् मुदे सरसा। सुखदा सालंकृतिरपि, सुधायुता च कविता मधुपस्य ॥ इसकी कविताओंके विषयमें मैं

इतना साहस पूर्वक कह सकता हूं, कि वे मनोहारिणी हैं। पढ़कर अनिर्वचनीय सुखानुभव हुआ, जो 'कविविलास' अथवा उनके रचे हुये अन्य पद्योंको देख चुके होंगे मेरे इस कथन को अत्युक्ति न समझेंगे। अन्तमें सधन्यवाद...।

पं० शंकरदयालुजी शर्म्मा, रंगून—'मधुप' यथा नाम तथा गुण हुआ है। मित्रवर कविपुष्करजीको पद्य-प्रबन्ध-प्रणयनमें सर्वतोभावेन सफलता प्राप्त हुई है। इसके लिये सहर्ष—

बा० धर्मचन्द्रजी खेमका 'चन्द्र' रंगून—उक्त सज्जनने 'मधुप' को साद्यन्त पढ़कर अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट की। एक पद्यमें उन्होंने अपनी सम्मति दी थी जो ढूंढ़ने से यथासमय न मिल सकी। खेद!

पं० विजयकृष्णजी शुक्ल, कलकत्ता—'मधुप' हारमोनियम पर गाने योग्य हैं। 'मधुप! कलिका पर क्यों मरते हो।' यह एकही पद्य बेजोड़ हैं। इसके—

बा० रामप्रसादजी सिंह महोदय, कलकत्ता—

कविपुष्करजी स्वाभाविक साहित्य सेवी हैं। मैं उनके राघववनवास महाकाव्य, कविविलास, रसिक रञ्जिनी, मनोमोहिनी तथा 'मधुप' आदिको उनके श्रीमुखसे सुन चुका हूं। मैं अपना आनन्द प्रकट नहीं कर सकता। परमात्मासे यही प्रार्थना है, कि आपकी लेखनीको अविराम चलते रहनेका अवसर दे......।

मधुप



(१)

मधुप ! करलो उसका गुणगान ।
जिसकी सुधा माधुरीका तुम, करते हो नित पान ।
जिसकी प्रेम-मुग्धतासे ही, बढ़ा तुम्हारा मान ।
जिसकी सुछवि-योग्यता पर तुम, देते रहते जान ।
'कविपुष्कर' जो जगको करता, सुखमय-सौरभ-दान ।

मधुप

(२)

मधुप ! रसमें बसते परमेश ।
उसी सरसताकी लिप्सामें, रमते तुम सविशेष ।
जिसका स्वाद सदा चख करके, देते प्रिय उपदेश ।
जीवनका तुमने माना है, अपने एकोद्देश ।
'कविपुष्कर' तुम रसिक पालते, मनसे आत्मादेश ।

(३)

मधुप ! प्रियसे पावन है प्यार ।
नित नूतन आनन्द स्रोतकी, बहती जिसमें धार ।
जो दरशा देता है अविरल, मनो मोक्षका द्वार ।
जिसके बलपर विरह-सिन्धुसे, मिल जाता है पार ।
'कविपुष्कर' तुमने खींचा हैं, सत्पदार्थका सार ।

(४)

मधुप ! हैं प्रेम सृष्टिका सार ।
पञ्चभूतमें जो रमता है, अति अद्भुतता धार ।
शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धों, का जिस पर है भार ।
त्रिगुण-त्रिकाल-त्रिलोक सभीमें, व्यापी अगणित बार ।
'कविपुष्कर' तुम धन्य ! लगाते, उसी प्रेमका पार ।

(५)

मधुप ! स्नेही-भाजन हैं धन्य।
उससे बढ़कर किसी लोकमें, नहीं दीखता अन्य।
क्योंकि भरी है सरस मधुरिमा, उसमें करुणाजन्य।
उस पर मोहित होनेवाला, कभी नहीं है वन्य।
'कविपुष्कर' इस हेतु सर्वदा, कहीं नहीं वह हन्य।

(६)

मधुप ! हैं रसके ज्ञाता थोड़े।
जिनके आगे देव-देवपति, कर रहते हैं जोड़े।
उनके प्रेम-सूत्रको किस विधि, किसे शक्ति जो तोड़े।
चित्तवृत्ति-रमिता-सरिताको, कोई कैसे मोड़े।
'कविपुष्कर' उनकी समताको किस प्रकारसे होड़े।

(७)

मधुप ! है प्रेम अमर अव्यक्त।
जिसकी महिमाको गाते हैं, सब अनुरक्त-विरक्त।
जिसे नहीं कोई कर सकता, ईश्वर बिना विभक्त।
कोई जिसे न जीत सका है, प्राणी महा सशक्त।
'कविपुष्कर' उसने बस जीता, जो बन गया सुभक्त।



(८)

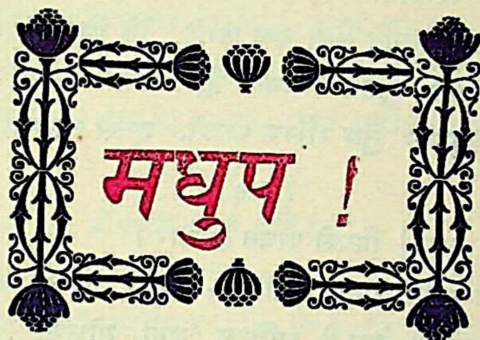
मधुप ! कैसा सुन्दर शृङ्गार !
कई दिनोंसे तरस रहे हो, जिसकी छटा निहार।
अहो भाग्य ही कर पावेगा, उसके संग विहार।
तव समान कितने प्रेमीको, तजने पड़े विचार।
'कविपुष्कर' इसलिये शान्त कर, डालो चित्त विकार।

(९)

मधुप ! मालीके हों सन्मित्र ।
देख सकोगे तभी पुनः तुम, सुखद अदोष सुचित्र।
और मधुर-रस तभी मिलेगा, जो है परम पवित्र।
मनको बहला सकते अपने, तुम अवलोक चरित्र।
'कविपुष्कर' निबहेगा तबहीं, प्रणयी समय विचित्र।

(१०)

मधुप ! है प्रेम बड़ा बलवान ।
यह कर देता शीघ्र चूर्ण है, साराही अभिमान।
इसकी महिमा वही जानता, जो होता बलिदान।
इसे बिगाड़ नहीं सकता है, कभी लोक अपमान।
'कविपुष्कर' जिसके वश होकर, मिलते हैं भगवान।



(१)

मधुप ! करलो उसका गुणगान।
जिसकी सुधा माधुरीका तुम, करते हो नित पान।
जिसकी प्रेम-मुग्धतासे ही, बढ़ा तुम्हारा मान।
जिसकी सुछवि-योग्यता पर तुम, देते रहते जान।
'कविपुष्कर' जो जगको करता, सुखमय-सौरभ-दान।

(२)

मधुप ! रसमें वसते परमेश ।
उसी सरसताकी लिप्सामें, रमते तुम सविशेष ।
जिसका स्वाद सदा चख करके, देते प्रिय उपदेश ।
जीवनका तुमने माना है, अपने एकोद्देश ।
'कविपुष्कर' तुम रसिक पालते, मनसे आत्मादेश ।

(३)

मधुप ! प्रियसे पावन है प्यार ।
नित नूतन आनन्द स्रोतकी, बहती जिसमें धार ।
जो दरशा देता है अविरल, मनो मोक्षका द्वार ।
जिसके बलपर विरह-सिन्धुसे, मिल जाता है पार ।
'कविपुष्कर' तुमने खींचा हैं, सत्पदार्थका सार ।

(४)

मधुप ! हैं प्रेम सृष्टिका सार ।
पञ्चभूतमें जो रमता है, अति अद्भुतता धार ।
शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धों, का जिस पर है भार ।
त्रिगुण-त्रिकाल-त्रिलोक सभीमें, व्यापी अगणित बार ।
'कविपुष्कर' तुम धन्य ! लगाते, उसी प्रेमका पार ।

मधुप

(५)

मधुप! स्नेही-भाजन हैं धन्य।
उससे बढ़कर किसी लोकमें, नहीं दीखता अन्य।
क्योंकि भरी है सरस मधुरिमा, उसमें करुणाजन्य।
उस पर मोहित होनेवाला, कभी नहीं है वन्य।
'कविपुष्कर' इस हेतु सर्वदा, कहीं नहीं वह हन्य।

(६)

मधुप! हैं रसके ज्ञाता थोड़े।
जिनके आगे देव-देवपति, कर रहते हैं जोड़े।
उनके प्रेम-सूत्रको किस विधि, किसे शक्ति जो तोड़े।
चित्तवृत्ति-रमिता-सरिताको, कोई कैसे मोड़े।
'कविपुष्कर' उनकी समताको किस प्रकारसे होड़े।

(७)

मधुप! है प्रेम अमर अव्यक्त।
जिसकी महिमाको गाते हैं, सब अनुरक्त-विरक्त।
जिसे नहीं कोई कर सकता, ईश्वर विना विभक्त।
कोई जिसे न जीत सका है, प्राणी महा सशक्त।
'कविपुष्कर' उसने बस जीता, जो बन गया सुभक्त।

(८)

मधुप ! कैसा सुन्दर शृङ्गार !
कई दिनोंसे तरस रहे हो, जिसकी छटा निहार।
अहो भाग्य ही कर पावेगा, उसके संग विहार।
तव समान कितने प्रेमीको, तजने पड़े विचार।
'कविपुष्कर' इसलिये शान्त कर, डालो चित्त विकार।

(९)

मधुप ! मालीके हों सन्मित्र।
देख सकोगे तभी पुनः तुम, सुखद अदोष सुचित्र।
और मधुर-रस तभी मिलेगा, जो हैं परम पवित्र।
मनको बहला सकते अपने, तुम अवलोक चरित्र।
'कविपुष्कर' निबहेगा तबहीं, प्रणयी समय विचित्र।

(१०)

मधुप ! है प्रेम बड़ा बलवान।
यह कर देता शीघ्र चूर्ण है, साराही अभिमान।
इसकी महिमा वही जानता, जो होता बलिदान।
इसे बिगाड़ नहीं सकता है, कभी लोक अपमान।
'कविपुष्कर' जिसके वश होकर, मिलते हैं भगवान।

(११)

मधुप ! जीवनका यह है सार।
प्रेम प्रगाढ़ हृदयमें उपजे, कभी न पावे पार।
एक रूपतामें रम जावे, त्याग जगतका भार।
और खोलदे अल्प समयमें, महा मुक्तिका द्वार।
'कविपुष्कर' अपनेको करदे, विरहानलमें छार।

(१२)

मधुप ! है सबसे उत्तम भाव।
उच्च हृदयमें कभी न रहता, इसका दुखद अभाव।
वही सफल होते हैं जिनका, है आदर्श स्वभाव।
औरों पर पड़ता है उसका, आशातीत प्रभाव।
'कविपुष्कर' तुम सर्व योग्य हो, तुममें नहीं दुराव।

(१३)

मधुप ! है सुन्दरता दुख मूल।
जो इसके वशमें होते हैं, वे करते अति भूल।
थोड़ेहीमें मान प्रतिष्ठा, मिल जाती है धूल।
जीवन भरको हो जाता है, पैदा उरमें शूल।
'कविपुष्कर' इस मोहकता पर, मत जाना तुम फूल।

मधुप

(१४)

मधुप ! रसमें विषका है वास ।
जो इसके प्रेमी होते हैं, वे पाते वहु त्रास ।
इसके कटु प्रसङ्गसे होता, सद्विचारका नास ।
पूरी कभी नहीं हो पाती संचित मनकी आस ।
'कविपुष्कर' मत लोभी होकर, जाना इसके पास ।

(१५)

मधुप ! प्रेमीको तनिक न ज्ञान ।
कभी नहीं रहता है उसको, अपने पनका मान ।
जो देता हैं तृष्णाके वश, अपनी प्यारी जान ।
उसे निरन्तर करना चहिये, प्रेम सुधाका पान ।
'कविपुष्कर' लोकापवादका, करता कभी न कान ।

(१६)

मधुप ! कलिका पर क्यों मरते हो ?
अभी नहीं रस लेने लायक, क्यों ऊधम करते हो ?
महापापके कठिन तापसे तनिक नहीं डरते हो ।
देख देख लावण्य मनोहर, तुम उसाँस भरते हो ।
'कविपुष्कर' बस जान बूझकर, अग्निकुण्ड परते हो ।

(१७)

मधुप ! मत करो अधिक गुञ्जार।
माली कहीं तुम्हें लख लेगा, करते हुए विहार।
अभी आजही तो कर देगा, इसको नष्ट उजार।
फिर रोते ही रह जाओगे, सूना विपिन निहार।
'कविपुष्कर' मौनावलम्ब ही, होगा उचित विचार।

(१८)

मधुप ! वे दिन फिर क्या आयेंगे ?
जब ये नयन श्यामकी सुखमा, लखकर सुख पायेंगे।
और कान ये वचनामृतको, पीके तर जायेंगे।
श्री चरणारविन्दको ये कर, परस हृदय लायेंगे।
'कविपुष्कर' फिर लता फूल फल, मेरे मन भायेंगे।

(१९)

मधुप ! तुम बने केतकी दास।
कभी नहीं तुम इस चम्पाके, आते हो क्यों पास ?
रसिक शिरोमणि होकर तुममें, पक्षपातका वास।
तुम्हें कदापि न शोभा देता, नयका करते नाश।
'कविपुष्कर' प्रिय पूरी करदो, एक बारही आश।

(२०)

मधुप ! तुम सत्यमेव हो चोर ।
तुमसे रञ्च नहीं मैं परती, कभी स्वप्नमें भोर ।
तिस पर भी मन मेरा करसे, ले जाते हो छोर ।
तुमसे खेल नहीं कर पाती, किसी भाँतिका जोर ।
'कविपुष्कर' तुम गुप्त प्रीतिका करते भण्डाफोर ।

(२१)

मधुप ! कबसे हूं ताक रही ।
तुम्हें छोड़कर यह मन पापी, जाता दूर नहीं ।
उत्सुकता है तुमसे लिपटूं, पाऊँ तुम्हें जहीं ।
अविचल नयन देखती हूं मग, निशि दिन लोट मही ।
'कविपुष्कर' यह समय बिते पर, आना वृक्ष सही ।

(२२)

मधुप ! है कुंजगलीमें खरी ।
पहले तो कुछ रहे न लक्षण, अब है छलबल भरी ।
रङ्ग रूपमें अति अनूप है, पहने सारी हरी ।
शुचि सुगन्धसे उसको होती, वहाँ वायु मनहरी ।
'कविपुष्कर' तुम सत्य बतादो, आवोगे किस घरी ।

मधुप

(२३)

मधुप! तुम पूरे ही हो श्याम।
रस लेनेमें बड़े चतुर हो, तजके सारा काम।
इसीलिये प्रेमी लेते तव, बड़े चावसे नाम।
काढ़ कलेजा तुम लेते हो, जाके प्रियके धाम।
'कविपुष्कर' तुम तृप्त न होते, फिर भी आठो याम।

(२४)

मधुप! तुम करलो खूब विहार।
कल ही फिर यह दृश्य न प्यारे, सकते सुभग निहार।
यह तो इस ऋतुका विकास है, जिसका हुआ प्रचार।
यह न मिलेगा चाहे तुम दो, अपने प्राण निसार।
'कविपुष्कर' इसलिये कष्टको, करो प्रथम स्वीकार।

(२५)

मधुप! माधुर्य गुणोंकी खान।
इसीलिये इसके लालचमें, होते हो बलिदान।
प्रातः काल सदैव मुदित मन, करते हो कल गान।
तुमको नहीं लोक लज्जाका, रहता कुछ भी ध्यान।
'कविपुष्कर' बस लगन निभाने, की है तुमको वान।

(२६)

मधुप ! तव उर भी तनु सम काला ।
फिर क्यों उठकर वृथा नामकी जपते हो नित माला ?
कलित केतकीने तुम पर है, कैसा जादू डाला ।
वह भी झूंख रही है अब तो, पड़ा कठिनसे पाला ।
'कविपुष्कर' मेरे उर देखो, उसी जलनसे छाला ।

(२७)

मधुप ! अब सचमुच विष खाऊँगी ।
शीघ्र पञ्च-भूतोंमें मिल कर महा मोद पाऊँगी ।
अपने प्राणोंको प्रियतमके, लिये छोड़ जाऊँगी ।
उनके गुण प्रत्येक अवस्था, में मैं तो गाऊँगी ।
'कविपुष्कर' मैं अपने मनमें कपट नहीं लाऊँगी ।

(२८)

मधुप ! मन शान्ति नहीं पाता है ।
यह तमारि-तनया-तट ममहित मरघट बन जाता है ।
यह बृंदावन उजड़े बनसा, मुझे दृष्टि आता है ।
यह गोकुलसा ग्राम कालपुर सा काटे खाता है ।
'कविपुष्कर' अब नहीं किसीसे किसी भाँति नाता है ।

(२६)

मधुप ! है पुष्ट तुम्हारा पक्ष।
विधिने निर्बल किया मुझे ही, सूझ न पड़ता लक्ष।
तुम तो सब प्रकार पण्डित हो, और गुणोंमें दक्ष।
मैं अबला लघु बोध अभागिनि, तिसपर कोमल वक्ष।
'कविपुष्कर' मनमें मेरे है कभी न छलका कक्ष।

(३०)

मधुप ! मेरा मन सोना खरा।
बहुत दिनों तक विरहानलमें, पड़ करके है जरा।
किन्तु सदाही लक्षित होता, दिव्य कान्तिसे भरा।
अभी, नहीं समत्व साँचेमें, मूर्ति रूपमें ढरा।
'कविपुष्कर' अच्छे सोनारके, अब है करमें परा।

(३१)

मधुप ! यह नष्ट न होती देह।
भीतर अग्नि धधकती भारी, ऊपर बरसे मेह।
पर अबतक सब विफल हुए हैं, उड़ा न किञ्चित छेह।
छूटे सब परिवार धर्म धन, ज्ञान-कर्म-नय-गेह।
'कविपुष्कर' पर एक न छूटा चन्द्र वदनका नेह।

मधुप

(३२)

मधुप ! अब तजो सुखोंकी आस ।
इसके घृणित विचारोंमें पड़, हुआ नियमका नाश ।
दिन पर दिन बंधते जाते हो, पराधीनता पाश ।
लोलुपता पिशाचिनी देती, तुमको नित प्रतिभास ।
'कविपुष्कर' होरहा प्राण प्रिय, इस प्रकारसे ह्रास ।

(३३)

मधुप ! मम मनकी मनमें रही ।
चरण-कमल-मकरन्द-माधुरी, मुझे भूलती नहीं ।
जीवन-आशा अश्रु धारके, अति प्रवाहमें बही ।
निशा दिवस मुझसे अभिलाषा, नहीं छूटती कहीं ।
'कविपुष्कर' समाय मैं जाती, फट जाती जो मही ।

(३४)

मधुप ! मैं तुम्हें न पतियाऊंगी ।
श्याम रङ्गमें भरा कूट छल, भूल न अपनाऊंगी ।
मधुर-स्वर भी दुखका कारण, कभी न ललचाऊंगी ।
प्रेम परीक्षा बड़ी बुरी है, इसे न ठहराऊंगी ।
'कविपुष्कर' चाहे दुनियामें, निरसा कहलाऊंगी ।

(३५)

मधुप ! माली वैरी है तेरा ।
सुमन वाटिकामें करता है, साँझ सवेरे फेरा ।
बहुत दिनों तक यहाँ नहीं वह रहने देगा डेरा ।
किसी भाँति वह कभी नहीं है होने वाला चेरा ।
'कविपुष्कर' आकर दुर्दिनने पूर्ण रूपसे घेरा ।

(३६)

मधुप ! कलिका है रससे भरी ।
रसिक रञ्जिनी इस उपवनमें, रही रस भर खरी ।
खिल जायेगी तुम्हें प्राप्त कर, ठहर जाव दो घरी ।
अभी न इसपर अन्यायी नर, की कुदीठ है परी ।
'कविपुष्कर' इसको अपनाओ, निश्चय ही सुख करी ।

(३७)

मधुप ! कलिका पर करते प्रीति ।
किन्तु बुरा कहता जग इसको, यह है ओछो नीति ।
तुम्हें नहीं किञ्चित लगती हैं, लोक लाजकी भीति ।
यौवनका विकाश होने दो, रोको निज कटु गीति ।
'कविपुष्कर' क्यों पाल रहे हो, दुर्जनताकी रीति ?

(३८)

मधुप ! मानसी व्यथा क्यों सहते ?
इस निर्जन वनमें अधीर हो, किस प्रकार हो रहते ।
अपने हृदय-पिण्डको विरहानलमें प्रतिक्षण दहते ।
नहीं किसीसे दुखकी बातें, कभी खोल कर कहते ।
'कविपुष्कर' तुम बड़े चतुर हो, उचित रीतिको गहते ।

(३९)

मधुप ! अब रहा न सुखका लेश ।
कैसे सफल करोगे बोलो, अपना प्रिय उद्देश ।
उलटे पीड़ा तुम पावोगे, उसको देख विशेष ।
कह दो तो मैं ही जा लादूं, उसका शुभ सन्देश ।
'कविपुष्कर' पर वहीं तुम्हारे, हित हो गया कुदेश ।

(४०)

मधुप ! अब आँख खोलकर जागो !
मन्द परे तारे निशि बीती, अब विमोहको त्यागो ।
तमचुर लगे बोलने सब दिशि, इस मन्दिरसे भागो ।
कलरव करने लगे विहङ्गम, अब न प्रेममें पागो ।
'कविपुष्कर' प्रकाश होता है, प्रियवर छुट्टी माँगो ।

(४१)

मधुप ! हो जावोगे वदनाम ।
यदि तुम इसी भाँतिका करते, रहे मोहमय काम ।
सभी तुम्हारा छिन जायेगा, राज्य-पाट-धन-धाम ।
प्रेम वड़ा है प्रवल छोड़दो, लो अपना मन थाम ।
'कविपुष्कर' नहिं समझो अपना भाग्य-विधाता वाम ।

(४२)

मधुप ! मन सोच समझ कर रहना ।
कभी किसीके आगे जाकर, उरकी व्यथा न कहना ।
बाँट नहीं सकता है कोई, अपने ही को सहना ।
धैर्य धार कर निज कायाको, मज़ा निरन्तर रहना ।
'कविपुष्कर' इस सुलभ मन्त्रसे, परमधामको लहना ।

(४३)

मधुप ! अपनी करनी भोक्तव्य ।
प्राणप्रियकी प्रेम कथा है, कभी नहीं वक्तव्य ।
मैंने अपना किया इसीसे, अति स्वतंत्र-मन्तव्य ।
अब संसार स्वयं देखेगा, क्या मेरा कर्तव्य ।
'कविपुष्कर' मैं ही दोषी हूँ, कभी नहीं क्षन्तव्य ।

(४४)

मधुप ! मत कुछ भी सोच करो ।
हैं सब दृश्य चार दिन वाले, यह सन्तोष धरो ।
शिर धुन करके विरह कथासे, मत तुम मित्र मरो ।
कभी नहीं दिन जायं बराबर, अपना शोक हरो ।
'कविपुष्कर' मत मोह दीपमें, होकर शलभ जरो ।

(४५)

मधुप ! मन हो जाता है भ्रान्त ।
जब तक नहीं प्राप्त होता है, हृदय पटांकित कान्त ।
लाखों बार बोध कर हारी, होता चित्त न शान्त ।
कर संकल्प-विकल्प विविधविधि,होती बुद्धि न भ्रान्त ।
'कविपुष्कर' प्रिय जहाँ बसे हैं, वही धन्य है प्रान्त ।

(४६)

मधुप ! ऊसरमें सुमन खिले !
एक पत्रवाहकके द्वारा, शुभ सन्देश मिले ।
मेरे दुःख शोकके बादल, थोड़ी देर टले ।
बहुत दिवसके धर्म-पुण्य-फल, मेरे आज फले ।
'कविपुष्कर' सात्वर तंत्रोंके, जपसे काम चले ।

मधुप

(४७)

मधुप ! जीते जी है अति ताप ।
उदित हुआ है पूर्व जन्मका, मेरे भारी पाप ।
अथवा किसी अन्य दुखियाने, दिया मुझे था शाप ।
जिसका फल मैं भोग रही हूं, निशिदिन आपी आप ।
'कविपुष्कर' उठती है मेरे, हृदयानलसे भाप ।

(४८)

मधुप ! यमुनामें डूब मरूंगी ।
या वृन्दावनमें लकड़ी चुन, लाकर आग जरूंगी ।
या गोवर्धन गिरिसे जाकर, लज्जा त्याग गिरूंगी ।
या वंशीवटसे फंसरी कर, अपने प्राण हरूंगी ।
'कविपुष्कर' अथवा विष खाके, मनके क्षोभ हरूंगी ।

(४९)

मधुप ! तुम तो सच हो आदर्श ।
तुम्हें प्राप्त कर हो जाता है, कलियोंमें उद्धर्ष ।
और दिनों दिन बढ़ने लगता, है उनका उत्कर्ष ।
प्यार तुम्हारा देख अनूपम, होता है नित हर्ष ।
'कविपुष्कर' फिर दुखका बढ़ने, पाता नहीं प्रकर्ष ।

(५०)

मधुप! मधु वनमें करते धूम।
लिपट लिपट लोनी लतिकासे, लेते मृदु मुख चूम।
पुनः मत्त हो अबुध दशामें, जाते पर-थल घूम।
कोई रक्षक नहीं यहाँ है, लेते रस हो झूम।
'कविपुष्कर' वह रसिक जनोंके, लिये सदा है सूम।

(५१)

मधुप! यह पाकर ग्रीष्म दहेगी।
किन्तु तुम्हारे उसी प्रेमकी, इच्छुक सदा रहेगी।
पुनः दूसरा जन्म धार कर, सारा वृत्त कहेगी।
परम पुनीत प्रेमका फिर भी, भारी बोझ वहेगी।
'कविपुष्कर' फिर संग तुम्हारे, अविरल मोद लहेगी।

(५२)

मधुप! अब दुर्लभ हुआ पराग।
जिसके प्रति अतीव रखते हो, तुम सस्नेह सुराग।
अब तुमको करना ही होगा, साहस सहित विराग।
इससे बढ़कर कभी न होगा, किसी भाँति दुर्भाग।
'कविपुष्कर' अब अन्य रसिकने, रसका किया विभाग।

(५३)

मधुप ! मैं तुमसे कभी न रुष्ट ।
यद्यपि वन निवास करके मैं, सहती भारी कष्ट ;
मैं तथापि निज सदाचरणसे, हूँगी कभी न रुष्ट ;
यहीं अकेली रह करके मैं, हो जाऊँगी नष्ट ।
'कविपुष्कर' निज हृदय भावको, कह देती हूं स्पष्ट ।

(५४)

मधुप ! है विरह वेदना भारी ।
जिसके कटु फलको चखती हा ! बेचारी ही नारी ;
मर जाना इससे है अच्छा, आवे कभी न पारी ।
रहती है दिन रात मुझे बस, अति चिन्ता उर जारी ।
'कविपुष्कर' यह नहीं मानती, कोटि यत्न कर हारी ।

(५५)

मधुप ! कण्टक पर क्यों अटके हो ?
आशा तुम्हें लगी है मनमें, काननमें भटके हो ;
हां, वसन्तऋतु तो समीप है, इसी लिये ठिठके हो ;
नव-प्रसून खिलने वाले हैं, रहनो धर लटके हो ।
'कविपुष्कर' रस तुम्हें मिलेंगे, विविध भाँति टटके हो ।

(५६)

मधुप ! यह चम्पा सूख गई।
तेरे एक प्रेममें इसको, यह दुर्दशा हुई।
पीड़ा सह कर इसके तनुमें, उपजी घोर छई।
फिर भी अति निर्मोही होकर, तूने सुधि न लई।
'कविपुष्कर' अब रक्षक इसका, केवल एक दई।

(५७)

मधुप ! ठहरो अब वर्षा आई।
गगन मार्गसे अति सुहावनी, बक-पङ्क्ति उड़ धाई।
दादुर मोर पपीहेकी ध्वनि, पड़ने लगी सुनाई।
नव वारिद्की छटा मनोहर, देती है दिखलाई।
'कविपुष्कर' मत बाहर जावो, घर पर रहो अघाई।

(५८)

मधुप ! यह है ऋतुराज बहार।
लोनी लता लदीं कुसुमोंसे, उड़ी सुगन्धि अपार।
खग-कुल-केलि-मत्त-कलरवयुत, पावो मोद निहार।
हरे भरे सुन्दर तरुओंसे, करती वायु बिहार।
'कविपुष्कर' अब यही योग्य है, रहता प्राण अधार।

(५६)

मधुप ! अब बढ़ता है उल्लास ।
देखो बदली प्रकृति जगतमें, नव ऋतु हुआ विकाश ।
पशु पक्षी भी अब घर पर ही, करने लगे निवास ।
अपर विदेशी भी अब तजकर, चलने लगे प्रवास ।
'कविपुष्कर' अब प्रमुदित धारो,तुम भी हास-विलास ।

(६०)

मधुप ! है प्रेम जगतमें जाल ।
जो इसके वश हुआ उसीका, जानो आया काल ।
कभी नहीं गलने पाती है, छलसे अपनी दाल ।
सब खो देना झट पड़ता है, तन मन सारा माल ।
'कविपुष्कर' अब बचो न चलने, पावे इसकी चाल ।

(६१)

मधुप ! तुम पालो अपना धर्म ।
इसका सचमुच बहुत लोग नहिं, जान सके हैं मर्म ।
इसके लिये न बच रहता है, कोई ऐहिक कर्म ।
इसके लिये छोड़ देते जन, कुल मर्यादा शर्म ।
'कविपुष्कर' कुछ भेद न कहना, उड़े देहका चर्म ।

(६२)

मधुप ! तुम क्यों इतने इतराते ।
चार दिनोंमें यह न रहेगा, काहेको कहवाते
अपनी बड़ी मूढ़ताको तुम, नाहक हो दरसाते ।
मिल जुल करके रहो परस्पर, प्रीति-भाव प्रकटाते ।
'कविपुष्कर' तुम दूर वासकर, जीको हो तरसाते ।

(६३)

मधुप ! तुम निकले भारी क्रूर ।
सुसमय आप इसे लख करके, जाते हो क्यों दूर ।
यह तुम नहीं जानते प्यारे ! यह है जीवन मूर ।
इसके बिना नहीं हो सकता, कभी मनोरथ पूर ।
'कविपुष्कर' यह गर्व तुम्हारा, होने वाला चूर ।

(६४)

मधुप ! तुम मानो मेरी कही ।
किसी कालमें एक भावसे नहीं अवस्था रही ।
केवल यश अपयश रहते हैं और भूलते नहीं ।
विषम दुःख पावोगे सुनलो ! यदि जाओगे कहीं ।
'कविपुष्कर' क्यों उसे न भोगो, रह करके तुम यहीं ।

मधुप

(६५)

मधुप छाये करीरके वनमें।
इधर उधर तुम घूम रहे हो, खिन्न अधिक हो मनमें।
पहलेकी अब शक्ति तुम्हारी, नहीं रही है तनमें।
दुख सहनेके लिये धरा पर, तुम्हीं एक क्यों जनमें।
'कविपुष्कर' तुम अग्र गण्य हो, इससे प्रेमीगनमें।

(६६

मधुप ! चुप रहो समझका फेर।
जब अच्छे दिन आ जायेंगे, बन लगे न वेर।
क्यों निज भाग्य बनानेके हित, होते नित हो जेर।
तुमको लिया मोहने हठ कर, भली भाँतिसे घेर।
'कविपुष्कर' धीरज ही दुखको, सारे देगा टेर।

(६७)

मधुप ! है ला कमलका कोष।
किन्तु पैर मत भूले देना, इसमें है बहु दोष।
बन्दी बन जाओगे छनमें, ठण्ढा कर दो जोश।
निज स्वतन्त्रता खो बैठोगे, और न होगा तोष।
'कविपुष्कर' मेरे कहने पर, करना कभी न रोष।

(६८)

मधुप ! तुम हो जावोगे बन्द ।
कमलोंका नहीं भरोसा, ये हैं जड़ मति मन्द ।
इस सरमें ये खड़े हुए हैं, फैला करके फन्द ।
गोरे लाल रंगवाले ये, भरे हुए छल छन्द ।
'कविपुष्कर' सन्मित्रोंके भी, ये होते दुख कन्द ।

(६९)

मधुप ! पग फूंक फूंकके धरना ।
हो स्वार्थान्ध आत्म-रक्षा-हित, मत अनीति पर चरना ।
तुम हो आर्य-वंशके भूषण, सदा धर्मसे डरना ।
कभी क्रोधके वशीभूत हो, मत हिंसादिक करना ।
'कविपुष्कर' सत्याग्रह करके, जाति-मान-हित मरना ।

(७०)

मधुप ! वह कभी नहीं सन्मित्र ।
जिसका हुआ नहीं अब तक है, कोई कार्य पवित्र ।
जो सदैव देखा जाता है, द्वेषी-दुष्ट-चरित्र ।
जिसके खिंचा हुआ उर-पटपै, लोल-कुभाव-कुचित्र ।
'कविपुष्कर' बचकर अब रहना, उसको जान कुमित्र ।

मधुप

(७१)

मधुप ! अवलोको घूंघट खोल ।
मुखकी सहज लुनाई मनको, ले लेती है मोल ।
उरको लेती खींच तुरत ही, इसकी चितवन लोल ।
इसके कंचन रंग रूप पर, जाता है चित डोल ।
'कविपुष्कर' अभिलाषा होती, सुननेकी नृ ड्ड बोल ।

(७२)

मधुप ! अब योगी वेष बनाओ ।
इस रूखे करीर-काननमें, अपनी धुनी रमाओ ।
नयन मूंद कर शान्त चित्त हो, प्रियका ध्यान लगाओ ।
शुद्ध समाधि साधकर अपने, तीनों ताप मिटाओ ।
'कविपुष्कर' भारी पापोंको, धोकर मित्र ! वहाओ ।

(७३)

मधुप ! मैं योगिन वेश धरूंगी ।
इस काननकी पर्ण-कुटीमें, निश्चल भोग करूंगी
कुल-लज्जा मर्यादा तनकी, दोनों भस्म करूंगी ।
बड़े बड़े हिंसक जीवोंसे, कुछ भी नहीं डरूंगी
'कविपुष्कर' एकत्व प्राप्त कर, मनमें मोद भरूंगी ।

(७४)

मधुप ! है हुआ प्रेमका रोग ।
इसके लिये कुपथ्य समझ लो, सांसारिक सुख भोग ।
औषध एक मात्र इसका है, होता निर्भय भोग ।
मन संयम ही वैद्य प्रवर है, इसका कहते लोग ।
'कविपुष्कर' सब और यत्न तो, हो जाते हैं ढोंग ।

(७५)

मधुप ! हो जाना है बलिदान ।
यह ! सुवर्ण अवसर आया है, इसको लो पहिचान ।
भाग्य प्रबल है इसका होता, नहीं किसीको ध्यान ।
हो जाता है क्षणभरमें ही, उथलापुथल महान ।
'कवि पुष्कर' यह किसी कामकी, नहीं मनुजकी जान ।

(७६)

मधुप प्रेमीमें है क्या शक्ति ।
क्या उसकी क्षणिक भावनासे ही, उरमें होती भक्ति ।
इससे कभी छूटनेकी भी, मिलती एक न युक्ति ।
अकस्मात् कुलटा है पीछे, पड़ी हुई अनुरक्ति ।
'कविपुष्कर' बस यही हेतु है, मिलतो शीघ्र न मुक्ति ।

मधुप

(७७)

मधुप ! मत होओ इतने म्लान।
करते रहो हृदयमें अपने, सुखद मूर्त्तिका ध्यान।
उड़ उड़ करके रहो सुनाते, उसका गुण-कल-गान।
अभिलाषा पूरी होवेगी, उपज जायगा ज्ञान।
'कविपुष्कर' मत अपनी निन्दा, को तुम करना कान।

(७८)

मधुप ! चेतो संध्या नियराई।
तरु शिखरोंसे दूर भाग कर, नभमें हुई ललाई।
अब प्रकाशकी धीरे .धीरे, होने लगी बिदाई।
निशानाथकी होने वाली, तारों सहित अवाई।
'कविपुष्कर' अब प ड़े न पक्षी गणकी बोल सुनाई।

(७६)

मधुप ! अब तीव्र शरद् ऋतु आ ।
छोटे दिवस निशा पहार सम, होने लगी लखाई।
रविका तेज न रहा पूर्वसा, हवा वही हरखाई।
वक्ष लतायें सूनी लगतीं, पत्ती सकल गिराई।
'कविपुष्कर' जाड़ेके मारे, मधु भी है महगाई।

(८०)

मधुप ! यह है निदग्ध दुखमूल ।
बन उपवनके झुलसे सारे, वृक्ष—वल्लरी—फूल ।
सूख गये सरवर वापी हैं, उड़ती दुखदा धूल ।
देख देख सूखे जलजोंको, उरमें उठता शूल ।
'कविपुष्कर' सब जीव दुखी हैं, यह ऋतु है प्रतिकूल ।

(८१)

मधुप ! तुम विचरो हो स्वच्छन्द ।
ये माली कब कर सकते हैं, तव उत्साह पसन्द ।
अपना मत अधिकार छोड़ना, हो करके निर्द्वन्द ।
डटे रहो अपने प्रण पर ही, तुम हो धीर अमन्द ।
'कविपुष्कर' फिर विजयी होकर, पाओ सब आनन्द ।

(८२)

मधुप ! साहसमें सिद्धि भरी ।
निरुद्योग जो हो जाते हैं, उनकी भूल निरी ।
उत्साहीका कार्य न रुकता, प्यारे एक घरी ।
जो आलस्य निकेत बने हैं, उन पर विपति परी ।
'कविपुष्कर' उनकी सब आशा, होती कष्टकरी ।

(८३)

मधुप ! मत घबरा करके मरो।
तुमने तो आनन्द लिया है, अब संकटमें परो।
रस लेनेका यही मजा है, चितको ढीठा करो।
रजनी भर सहवास–लाभ कर, उरकी पीड़ा हरो।
'कविपुष्कर' तुम बच जावोगे, मत कातर हो डरो।

(८४)

मधुप ! जो चहते निज कल्यान।
तो अपना मन इन जलजोंको, करना नहीं प्रदान।
इनसे करके प्रीति आज तक, कोई खुशी हुआ न।
ये स्वातंत्र छीनने वाले, इनका लोभ निदान।
'कविपुष्कर' अपनेको रोको, ये हैं शत्रु महान।

(८५)

मधुप ! हैं नहीं सुधरते नीच।
इनके शिर पर नाच रही है, मुँह फैलाये मीच।
नीम न मीठी हुई कभी है, देखो गुड़ घी सींच।
वंश-प्रभाव छुटेगा कैसे ! इन का जन्मद—कीच।
'कविपुष्कर' इनसे मत लरजो, समझो उरके बीच।

(८६)

मधुप ! यह माली है हत्यारा ।
जिस पर तुम अत्यन्त मुग्ध थे, औ था तुम्हें सहारा ।
जो जीवनका परम ध्येय था, सब प्रकारसे प्यारा ।
जिस पर गौरवयुत करते थे, अपना सदा गुजारा ।
'कविपुष्कर' इस अन्यायीने, उसका पुंज उखारा ।

(८७)

मधुप ! यह माली है तव दास ।
बाग न है इसके बावेका, खोद रहा है घास ।
डर लगता है कहीं न कर दे, सुमन मूलका नाश ।
नहीं तुम्हारा अच्छा लगता, कभी इसे है वास ।
'कविपुष्कर' पर ऐसा कीन्हो, आवे भूल न पास ।

(८८)

मधुप ! कलिकायें चुन जायेंगी ।
ये मंजुल मालामें गुँथकर, सुखमा सरसायेंगी ।
सुन्दर करसे किसी रसिकके, गलमें पड़ जायेंगी ।
सभी दर्शकोंके ये मनको, निर्विवाद भायेंगी ।
'कविपुष्कर' अपने जीवनका, फल यों ही पायेंगी ।

(८९)

मधुप ! है पतन-मूल उत्थान।
इसीलिये जो इसे जानते, नहिं करते अभिमान।
यह संसार-नियम है प्यारे ! तुम तो चतुर सुजान।
काल बदलते देर न लगती, इसका नहीं प्रमान।
'कविपुष्कर' हैं खेद न करते, इसीलिये विद्वान।

(९०)

मधुप ! मध्याह्न कालमें आना।
माली उसी समय जाता है, करने पानी दाना।
तब हँसहँस कर मन रमिताको, सुखसे कण्ठ लगाना।
अपने उरका ताप बुझाना, जी भरके हरषाना।
'कविपुष्कर' आहट पा करके, वेग सहित उड़ जाना।

(९१)

मधुप ! है प्रेम परम दुख-मूल।
कभी नहीं यह हो सकता है, अपने मन अनुकूल।
इसके अति प्रभावसे होते, साथी भी प्रतिकूल।
आम रोपते समय मूलमें, रोपा दुखद बबूल।
'कविपुष्कर' उसके काँटेको, करना पड़ा कबूल।

(६२)

मधुप ! फिर भी न गई है चाह।
जिसे जान कर आस पासके, लोगोंमें थी डाह।
मेरे उरसे सदा निकलती, हृदय जलाती आह।
मैं हूं कौन ? काम क्या मेरा, जाना है किस राह।
'कविपुष्कर' इस हेतु न होती, शान्त दुःखदा दाह।

(६३)

मधुप ! नहिं रुकता प्रेम-प्रवाह।
इसे थहा कर देख चुकी हूं, यह है अगम अथाह।
पड़ कर इसके तीव्र वेगमें, होना कठिन निवाह।
नहीं किसीकी अच्छी लगती, कोई भली सलाह।
'कविपुष्कर' उसमें ही मिलती, थोड़ी बहुत पनाह।

(६४)

मधुप ! वन छोड़ कहाँ जावोगे।
ऐसा सुखद दृश्य तुम सचमुच, कहीं नहीं पावोगे।
जो कुबुद्धि वश हठ धारोगे, पीछे पछतावोगे।
होकर खिन्न वहाँसे फिर भी, यहाँ लौट आओगे।
'कविपुष्कर' पंखुरी क्यारीमें, पड़ी हुई पाओगे।

(६५)

मधुप ! फिर काह करोगे बोलो।
अपनी हृदय ग्रन्थिको मेरे, सम्मुख हट तन खोलो।
होकर मदोन्मत्त इस विधिसे, व्यर्थ न वनमें डोलो।
अपनी मृदु गुञ्जार सुनाकर, श्रवण सुधा रस घोलो।
'कविपुष्कर'मम न्याय वचनको, नीति तुलापर तोलो।

(६६)

मधुप ! तुम हृदय कञ्जमें फंसे।
नहीं छूट सकते इससे हो, गये यत्नसे ग्रसे।
अब तो क्षोभ बहुत दिन-संचित, एकवार सब नसे।
गुप्त तुम्हें रखती हूं कोई, देख न हम पर हंसे।
'कविपुष्कर' रस लेनेके हित, रहो यहीं तुम बसे।

(६७)

मधुप ! तुम एक वार उड़ जाओ।
पुनः लौट मत आओ जबतक, प्रियका पता न पाओ।
मेरी विनती मधुर गिरासे, उनको पहुंच सुनाओ।
मेरी दशा देख कर कुछ तो, दया हृदयमें लाओ।
'कविपुष्कर'तुम उत्तम कुल हो, मेरी विपति नसाओ।

(९८)

मधुप ! मुझको चहिये सन्देश ।
सब प्रकार मैं पाल रही हूं, प्रियतमका आदेश ।
पर दर्शनके बिना हो रहा, अब तो कठिन कलेश ।
उनके मनको मोह रहा है, वह निर्जीव विदेश ।
'कविपुष्कर' अब तुम्हीं सुनाओ, उनकी कथा विशेष ।

(९९)

मधुप ! हो दूत सुनीति-निधान ।
जो अविकल सब समाचारको, आ कर सके प्रदान ।
सत्यप्रियता होना चहिये, उसमें कार्य प्रधान ।
जो स्वार्थी बनकर मिथ्याका, तने न विविध वितान ।
'कविपुष्कर'जो मृदुभाषी हो, जिसका वचन प्रमान ।

(१००)

मधुप ! मैं उस थल पर जाऊंगी ।
रसिक राजके चरणरेणु का, चिन्ह जहां पाऊंगी ।
बार बार कर ध्यान उसीका, सादर शिर नाऊंगी ।
परिक्रमा कर पांच बार मैं, उनके गुण गाऊंगी ।
'कविपुष्कर' बस आस पासमें, वहीं कुटी छाऊंगी ।

मधुप

(१०१)

मधुप ! तुम पड़े कोषमें धाय ।
कौन सहायक बने तुम्हारा ? जो ले शीघ्र छुड़ाय ।
बिना तुम्हारे निर्जन यह थल, क्षण भर नहीं सुहाय ।
भ्रमरी है अत्यन्त अधीरा, इसका कुछ न वसाय ।
'कविपुष्कर' अब सूर्योदय ही, होगा परम सहाय ।

(१०२)

मधुप ! तुम तो हो परम सुजान ।
सहना कष्ट पड़ेगा तुमको, अब हीं दूर बिहान ।
पर भयदा यामिनी-तिमिरका, मिटने लगा निशान ।
इस सरवरमें पैठ रहा है, गज तव शत्रु महान ।
'कविपुष्कर' यह कहीं न होवे, दुखका प्रकट निदान ।

(१०३)

मधुप ! क्या है गुलाबमें धरा ?
चोखे कांटोंसे पूरित है, इसका डण्ठल हरा ।
एक कियारीमें दिखलाई, देता है वह खरा ।
पत्ती उसकी गिरी भूमि पर, कुसुम राज भी मरा ।
'कविपुष्कर' आनन्द तुम्हारा, इसके सङ्गमें जरा ।

(१०४)

मधुप ! तुम निकले मोही—निरे ।
रस-लिप्सासे हीन दशामें, हो जीवटसे भिरे ।
पर अब दिवस तुम्हारे प्यारे, जाने जाते फिरे ।
द्वेषी रहे तुम्हारे सारे, वे खन्दकमें गिरे ।
'कविपुष्कर' पर दुखके बादल, प्रेम पात्र पर घिरे ।

(१०५)

मधुप ! अब रह सानन्द ।
कोई नहीं तुम्हे बोलेगा, तुम तो हो स्वच्छन्द ।
इस काननके तुम राजा हो, भोगो राज्य अमन्द ।
न्यायी-चतुर-प्रजा-पालक हो, करना धर्म पसन्द ।
'कविपुष्कर' रहना प्रसन्न मन, हो करके निर्द्वन्द ।

(१०६)

मधुप ! मेरे मुखको मत चूम ।
अपर मधुपका यह उ , क्यों करता है धूम ।
अरे मूर्ख क्या तुझे नहीं डर ? मोदित होता भूम ।
तेरे इस कुकृत्यसे मेरा, चित्त गया है घूम ।
'कविपुष्कर' मत लाज बिगारे, ऐ अन्यायी सूम ।



(१०७)

मधुप ! माली भारी है दुष्ट।
ले जाता है कुसुम तोड़ कर, होता कभी न तुष्ट।
कुछ दिवसों तक उसे नहीं है, होने देता पुष्ट।
तुम्हें देखते जल भुन करके, हो जाता अति रुष्ट।
'कविपुष्कर' इस महापापसे, हुआ इसे है कुष्ट।

(१०८)

मधुप ! चम्पाके पास न जाना।
नहीं अन्तमें तुम्हे पड़ेगा, नाहक ही पछताना।
स्वर्ण कटोरियोंमें विष घोला, कभी न तुम नियराना।
चाहे किसी रसिक के आगे, अरसिकही कहवाना।
'कविपुष्कर' पर वहां पहुंचकर, अपनेको न गंवाना।

(१०९)

मधुप ! कैसी हैं भोलीभाली।
अभी छिपी थी किसलय-चममें, देखो छटा निराली।
धीरे धीरे डोल रही है, इसको लेकर डाली।
इसकी मृदु मुसकान दीठने, गजब मोहनी डाली।
'कविपुष्कर' इसको नहिं देखे, यह मुहझौंसा माली।

(११०)

मधुप ! तुमसे भी है सुन्दर दल ।
यह तो चुप भी रह सकता पर, इसको नहीं कभी कल ।
उसमें तो बहु दोष भरे हैं, इसमें रञ्च न है छल ।
वह परको दुख देनेवाला, उपकारी यह प्रति पल ।
'कविपुष्कर' उसमें अघ जानो, इसमें कहाँ तनिक मल ।

(१११)

मधुप ! तुमको लख जलते भेक ।
वे हैं नीरस अबुध लगी है, इनकी मलसे टेक ।
तुम हो रसिक-कला-विद्यानिधि, तुममें द्वेष न नेक ।
वे कीचड़के प्रेमी उनमें, होता नहीं विवेक ।
'कविपुष्कर' तुम सहनशील हो, तुममें सुगुण अनेक ।

(११२)

मधुप ! तुम करते प्रेम प्रचार ।
उदाहरण बन दिखलाते हो, अपना सत्य विचार ।
सीख गये तुमसे अनेक जन, रखना लक्ष्य उदार ।
बुरे समयमें जिसे मानते, हैं अपना आधार ।
'कविपुष्कर' फिर दुख सहनेको, रहते हैं तैयार ।

मधुप

(११३)

मधुप ! गुणके ग्राहक हैं लोग ।
तुम कुरूप होकर भी जगमें, भोग रहे सुख भोग ।
सहते हैं फटकार अनारी, रचने वाले ढोंग ।
निज पाण्डित्य प्रदर्शनका है, तुममें बुरा न रोग ।
'कविपु ष्कर' जो अधम जीव हैं, करते वे हठ भोग।

(११४)

मधुप ! अब आई जाँच जड़ी ।
ग्रीष्म-भानुकी बहुत दिनोंसे, तुम पर दृष्टि गड़ी ।
देख रहा हैं गगन मार्गसे, वह अनुकूल घड़ी ।
तुम्हें परीक्षा देनी होगी, सह आपत्ति कड़ी ।
'कविपुष्कर' सफली होने पर, पै हो कीर्ति बड़ी ।

(११५)

मधुप ! परदेशीकी कुछ कहिये ।
बारह मास बीतगये बोलो, अब कबतक दुख सहियो ।
यदि दर्शन दुर्लभ हैं उनके, सन्देशा तो चहिये ।
बोध हमें देनेके हित कुछ, काल यहाँ ही रहिये ।
'कविपु ष्कर' दुखसिन्धु डूबती, काकर कृपया गहिये ।

(११६)

मधुप ! मतवाला रे, मन मेरा चुराये चलाजाय।
मिलनेकी मेरी अभिलाषा, भारी बढ़ाये चला जाय।
मेरी सार रहित काया की, माया छुड़ाये चला जाय।
प्रेमनगरकी टेढ़ी सड़कको, देखो दिखाये चला जाय।
'कविपुष्कर' विपत्तिकी ओढ़नी, आके ओढ़ाये चला जाय।

(११७)

लद गई कुसुमसे डार।
नहीं सँभार सकेगी, इतना भारी भार।
माल ी चक्कर काट रहा है, जिसका है अधिकार।
चोर न इसको लूट सकेंगे, बैठे ड्योढ़ीदार।
'कविपुष्कर' जो बहुत चतुर है, लेगा बाजी मार।

(११८)

मधुप ! क्या बातें करना है।
अच्छा तो उससे हजार गुन, बुड़ धँस मरना है।
निज प्रियके अनुराग पागकर, निशि दिन जरना है।
प्रेम किया तो फिर क्या जगके, रवसे डरना है।
'कविपुष्कर' जीवनमें अपने, दुख ही भरना है।

(११६)

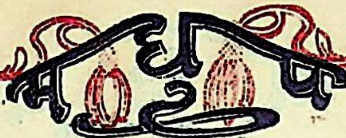
मधुप ! ममता पर मारो लात ।
इस कुलटाके वशमें होकर, बिगड़ी सारी बात ।
आँसू आखोंसे ढरकाते, बीतीं अगणित रात ।
थर थर काँप रहा सुध होते, मेरा दुर्बल गात ।
'कविपुष्कर' इसका छल मुझको, हुआ अभी हैं ज्ञात ।

(१२०)

मधुप ! नयनोंसे बहता नीर ।
बिना तुम्हारे इस कुसमयमें, कौन बँधावे धीर ।
सब सुख स्वप्न हुये अब सच्ची, अखर रही है पीर !
नहीं सुहाते खान पान है, और विभूषण चीर ।
'कविपुष्कर' मेरे शिर आकर, परी असह हैं भीर ।

(१२१)

मधुप ! उड़ जाती प्रियके पास ।
तुम जैसे पर मेरे होते, तो पाती क्यों त्रास ।
इस निर्जन वनमें कर पाती, क्यों ? इतने दिन वास ।
और न होने पाता बलका, कभी इस तरह ह्रास ।
'कविपुष्कर' पूरी कर पाती, अपने उरकी आस ।



(१२२)

मधुप! कुसुमाकर आयेगा।

जब यह वन पत्ते फूलोंसे, पुष्पित हो जायेगा।
त्रिविध बयार वहेगी हीतल, शीतल हो जायेगा।
विहंग विहार करेंगे मृगकुल, इधर उधर आयेगा।
'कविपुष्कर' वह समय तुम्हारा, अहोभाग्य लायेगा।

(१२३)

कब आवोगे? प्यारे हमारे मधुप!

इस नीरव वनमें चौतरफा, मीठी तान सुनाओगे!
उड़उड़कर लतिकासुमनोंपर, अविरल दृश्य दिखाओगे।
इस अबला दुःखिनी प्रियाको, पुनः सनाथ बनाओगे।
'कविपुष्कर' प्रेमालिङ्गनसे, जीकी कली खिलाओगे।

(१२४)

मधुप! सूना सारा संसार।

बिना प्राणधनके यह जीवन, सचमुच है निस्सार।
मन वच कर्म एक ही अपना, है होता आधार।
सुखी हृदय होता है जिसकी, प्यारी छटा निहार।
'कविपुष्कर' उनमें लय होना, मेरा सत्य विचार।

(१२५)

मधुप ! जीनेसे मरना नीक।
कुलकी लाज छोड़कर जिससे, पड़े न लेनी भीक।
और नीतिके जनवैया जन, डारें कहीं न पीक।
यही एक है यत्न योग्य वश, पड़ी हृदयमें लीक।
'कविपुष्कर' मैं समझ चुकी हूं, सोलह आने ठीक।

(१२६)

मधुप ! नलिनीका है सूखा दल।
इसको देख देख मडराते, पाते हो न कहीं कल।
ग्रीष्म-प्रचण्ड-तापसे तप कर, गई लुनाई है टल।
इस दो दिनकी दुनियाँमें तो, सब कुछ दुःखद औ चल।
'कविपुष्कर' अब आशा तजके, टलकर कर अपने मल।

(१२७)

मधुप ! अब आँख खोल उठ भाग।
अपने इस कुमित्रको अरि सम, क्षण भरमें तू त्याग।
इसने तो समूल मैत्रीमें. उभर लगादी आग।
व्यर्थ अज्ञान बना न पड़ा रह, ऐ रसिया ! अब जाग।
'कविपुष्कर' मत पड़े पड़े यों, मोह-मद्यमें पाग।

(१२८)

मधुप! मम जीवनज्योति जगादे।
एक बार आनन्द-श्रोतको, पुनः आय उमगा दे।
विषम व्यथाके अधिकारोंको, कृपया दूर भगा दे।
जन-मण्डलमें भाग्य-भानुको, फिरसे तुरत उगादे।
'कविपुष्कर'सुन विनय बावले! मुझको अब न दगादे।

(१२९)

मधुप! सुन्दरता सुधा पिया।
अमित जन्मतक अजर अमर हो, सुखके साथ जिया।
उसने अपने जीवन-धनको सचमें सफल किया।
दोष किसीने उसके आगे, कभी न खोल दिया।
'कविपुष्कर' कल्याण मार्गका आश्रय उचित लिया।

(१३०)

मधुप! जगदीश भजो मति मार।
वही सहायक तीन कालमें, शुद्ध सच्चिदानन्द।
सभी जीव जिसकी सत्तासे, राज रहे स्वच्छन्द।
रक्षक है जो सारे जगका, मूल सत्य-प्रियकन्द।
'कविपुष्कर' उसको बस ध्याओ, करके आँखें बन्द।

(१३१)

मधुप ! चरणारविन्द सुखधाम ।
उनमें लिपट छोड़ माया पर, पूरा हो मनकाम ।
नयन-नीरसे नहवानेमें, क्या लगता है दाम ।
हृदय-सुमनको भेंट चढ़ाकर, गा करके गुणग्राम ।
'कविपुष्कर' हों सफल शीघ्र ये, हाड़, मास औ चाम ।



हिन्दी एवं बङ्गला

साहित्यकी

सर्वोत्तम पुस्तकें

प्रेमाश्रम	३॥)	सूर्य-ग्रहण	२॥)
विहारी बोधिनी	२)	कुसुम संग्रह	१॥)
म० ईसानाटक जिल्द	१=)	श्रीकृष्णजन्मोत्सव	|=)
गृहिणीभूषण	॥)	करुणा	३॥)
वङ्किम-ग्रन्थावली	१)	श्रीकृष्ण	५)
सती मदालसा रे.जि.	२)	मायापुरी	२॥)
कृष्ण सुदामा	१)	सती विहुला	२॥)
हिन्दी वहीखाता	३)	वैराग्यशतक	४)
ज्योतिर्विज्ञान	२॥)	नीतिशतक	५)
सावित्री	१॥)	शृङ्गारशतक	३॥)
सती चन्दनबाला	॥=)	गुलिस्ताँ	२॥)

चरित्र संगठन	१)	हाजीबाबा	३)
जयद्रथ वध	॥)	यङ्ग इण्डिया ३ भाग	४)
मधुर-मिलन नाटक	॥।)	सरलगीता ३ भाग	१॥)
स्वाधीनताके सिद्धान्त	१)	भारतीय गोधन	२)
कविविलास	।)	तिलकशोकाञ्जलि	=)

बङ्गला पुस्तकें—

मनेर दाग	२)	आशार आलो	१॥)
ए कालेर मेये	१॥)	स्नेहेर दान	२)
प्रीतीर निदर्शन	२)	धर्म्मपत्नी	३)
दिशेहार	२)	हातेर नोया	२)
श्रीमद्भगवद्‌गीता	१॥)	थियेटर सङ्गीत	।॥)
कालीदासेर कविता	॥)	योग व साधन रहस्य	२)
ब्रह्मचर्य शिक्षा	१॥)	गीत व वाद्य शिक्षा	॥=)

सब प्रकारकी पुस्तकें मंगानेका पता—

बी० पी० गुप्त एण्ड को०,

२२, मछुआबाजार स्ट्रीट, कलकत्ता।

सुन्दर-साहित्य-ग्रन्थमालाके

स्थाई ग्राहकोंके नियम

१—एक बार १) रु० प्रवेश शुल्क भेजकर अपना नाम लिखवाने वाले सज्जन स्थाई ग्राहक समझे जायेंगे।

२—ग्रन्थावलीकी समस्त प्रकाशित पुस्तकें उन्हें पौने मूल्यमें वी. पी. द्वारा भेजी जायेंगी।

३—जो पुस्तक प्रकाशित होगी, उसकी सूचना स्थाई ग्राहकोंको एक सप्ताह पहले दी जायगी।

४—मंगाई हुई पुस्तकें लौटाई नहीं जायेंगी।

५—स्थाई ग्राहकगण एकसे अधिक पुस्तकें भी पौने मूल्यमें पा सकेंगे।

पता—बी० पी० गुप्त एण्ड को०,

२२, मछुआबाजार स्ट्रीट, कलकत्ता।

मिलन

(एक प्रेम कहानी)



रामनरेश त्रिपाठी

प्रकाशक

हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग ।

चौथा संस्करण] होली, १९७९ [मूल्य, चार आना

पहला संस्करण-होली, १९७४-१०००
दूसरा संस्करण-वैशाख, १९७६-२०००
तीसरा संस्करण-होली, १९७७-२०००
चौथा संस्करण-होली, १९७९-२०००

C. M. V. Sharma



पुरुषोत्तम दास लोहिया

प्रेमोपहार

——:o:——

आया परम हर्षका दिन यह होलीका त्योहार।
मित्र मित्र मिल मोद मनाते हैं विनोद उर धार॥
प्रिय पुरुषोत्तमदास लोहिया! सहृदय मित्र उदार!
प्रेम-सहित स्वीकार करो यह होलीका उपहार॥

होली, सं० १९७४ रामनरेश त्रिपाठी

सबसे प्रथम सृष्टिमें तू ने जहाँ लिया अवतार।
कलरव कर, ऐ मधुर कहानी ! पाया सबसे प्यार॥
जगत जगाने गई, वहीं अब करने लगी विहार !
आ, अब अपना देश जगा दे घूम घूम प्रति द्वार॥

मिलन

——:*:——

पहला परिच्छेद

[१]

नीरव आधी रात अँधेरी शांत दिशा आकाश ।
गुपचुप तारागण करते थे झिलमिल अल्प प्रकाश ॥
प्रकृति मौन, सचराचर निद्रित, अति निस्तब्ध समीर ।
जागृत, वनमें लता-विनिर्मित केवल एक कुटीर ॥

[२]

दो जन, प्रणयी और प्रणयिनीका वह शांति-निकेत ।
वन के हृदय समान सजग था निद्रा-रहित सचेत ॥
जग निद्रित, पर उन आँखों में था न नींद का वास ।
क्या कारण था, जो करते थे वे एकान्त निवास !

[३]

प्रणयी युगल कुटी के भीतर अति समीप आसीन ।
थे चिन्तित, आसन्न भयाकुल, नयन-निमेष-विहीन ॥
व्यथित प्रणयिनी धर प्रणयीके बाहु-मूल पर माथ ।
साश्रु नयन धीरे से बोली "प्राणसखा ! हे नाथ !

[४]

"मुझे न छोड़ो विजन विपिन में हे प्रियतम ! हृदयेश !
मैं अबला न सहन कर सकती विरह-व्यथा लवलेश ॥
सरला सुधबुधहीन बालिका शोकानुभव-विहीन ।
करो नहीं मुझ कोमलिनी को अधिक वियोगाधीन ॥

[५]

"शक्ति नहीं जो नाथ ! तुम्हारा सुन भी सकूँ प्रयाण।
रहते प्राण न जाने दूँगी, मेरे जीवन-प्राण !" ॥
सुन प्रणयी के इन्दु-वदन में मृदुल कौमुदी-हास।
विकसित हुआ, झुकाया उसने शशि को शशि के पास ॥

[६]

चन्द्र-कुण्डली सा वलयित कर रमणी-कण्ठ ललाम।
चिबुक, प्रस्फुटोन्मुख गुलाब धर चूम भाल अभिराम॥
कहा-"प्रियतमे ! प्राणेश्वरि ! मम सतत सङ्गिनी बाल !
सभय न हो, मैं नहीं करूँगा आने में अतिकाल ॥

[७]

"जिनके कारण नष्ट हुआ है अपना सुख सु-विलास ॥
गृह तज ग्रहण किया है हमने वन-एकान्त-निवास ॥
जिनके कारण नित करता है अगणित घर उपवास।
इस पर भी सहना पड़ता है जिनका कटु उपहास ॥

[८]

"किया जिन्होंने स्वर्णभूमि को कौड़ी का मुहताज।
किया पददलित हाय ! हमारा देव-समर्पित ताज ॥
कण कण में उनका कुनीति की कथा हो चुकी व्याप्त।
हाय ! अभी तक हुआ न उनका अत्याचार समाप्त !

[९]

"अणु अणु में हैं व्याप्त इस समय उनके विमुख विचार।
उन्हें देख खग भी उठते हैं उनका अन्त पुकार ॥
प्रतिफल देना उन्हें उचित है धर विकराल कृपाण।
निश्चय है उनका अब होगा बहुत शीघ्र अवसान ॥

[१०]

"क्षुब्ध शीघ्र होने वाला है दुर्गम महासमुद्र ।
कबतक उसमें उच्च रहेगा अभिमानी तृण क्षुद्र ॥
वे भी समझ गये अपने को घृणित और अनुदार ।
उनके इसी भाव से होगी निश्चय उनकी हार ॥

[११]

"रक्षित रखने को भूतल पर मनुष्यता का नाम ।
उठने वाले हैं ईश्वर के कर असंख्य अविराम ॥
अस्थि-चर्म-मय कङ्कालों में जो कुछ बल है शेष ।
संचय कर रिपु-रहित करूँगा अपना प्यारा देश ॥

[१२]

"रणभेरी बजने वाली है करने को रिपु-नाश ।
शीघ्र देश में देखेगी तू विजया ! विजय-प्रकाश ॥
प्रिये ! विदा, प्रियतमे ! विदा दो सुमुखि ! सहर्ष, सहास ।
मैं पतङ्ग हूँ प्रेम-डोर का फिर आऊँगा पास" ॥

[१३]

पंकजमालासी प्रणयी के मृदु गलबहियाँ डाल ।
दृग-चकोर से देख चन्द्रमुख बोली विह्वल बाल ॥
"प्यारे ! मूर्त्ति हृदय-मंदिर के ! मेरे जीवन-प्राण !
क्या आवश्यक है लेना ही कर में विषम कृपाण ?

[१४]

प्रेमभरी चितवन प्राणी को है पीयूष समान ।
और घृणा की एक दृष्टि ही है विकराल कृपाण ॥
रिपुओं को सब मिलकर देखो घोर घृणाके साथ ।
अनायास उनका क्षय होगा मेरे जीवन-नाथ" !

[१५]

सुनकर हँसा युवक, फिर बोला–"प्रिये ! ठीक है बात।
पर इस रमणी-सुलभ अस्त्र से उचित न शत्रु-निपात॥
कुटिल कटाक्ष-पात से करना आहत हत उन्मत्त।
है यह प्रमदा-कर्म, पुरुष के लिये न कीर्ति-प्रदत्त॥

[१६]

वीर-कर्म है खड्ग-हस्त हो जा डटना रण-बीच।
उसे न भीरु बना सकती है सखा सहोदर मीच"॥
प्रकृत लज्जिता कुछ सकुचा कर बोली–"अच्छा, नाथ !
नहीं रुकोगे, तो रखलो इस दासी को भी साथ॥

[१७]

चिरसङ्गिनी तुम्हारी मैं हूँ मेरे जीवन-नाथ !
जहाँ जहाँ जाओगे मैं भी सदा रहूँगी साथ॥
साथ रहूँगी, पद सेऊँगी छाया सम सब काल।
मेरे नाथ न छोड़ूँगी मैं यह तव बाहु विशाल॥

[१८]

जो न ले चलोगे सँग प्यारे तो करके विष-पान।
होते ही दृग-ओट प्राणधन ! मैं तज दूँगी प्राण"॥
बोला युवक—"नहीं सुनती जो प्यारी ! मम उपदेश।
चलो, परन्तु बनालो अपना पुरुष-सरीखा वेश॥

[१९]

"लज्जा भय तज, साहस उर धर पुरुषों के अनुकूल।
"तुम रमणी सुकुमारमना हो," यह अब जाओ भूल॥
पर-पद-दलित स्वदेश-भूमि का चलो करें उद्धार।
हम मनुष्य होकर क्यों छोड़ें निज पैतृक अधिकार"॥

[२०]

सुन वाणी हो सफल मनोरथ उमड़ा अमित उमङ्ग।
पुष्प-भार-अवनता-लता सी तज प्रियतम-तरु-अङ्ग॥
धीरे धीरे उठी प्रणयिनी सुन पति का आदेश।
पुरुष-समान किया कर्तन कर एड़ी-चुम्बित केश॥

[२१]

कञ्ज-कली-कुच कसकर बाँधे समतल किया शरीर।
पगड़ी बाँध वस्त्र सब पहना तजकर सुन्दर चीर॥
देख मुकुर में रूप न निजको स्वयं सकी पहचान।
गिरा-गौरता-सदृश सुमुख पर आई मृदु मुसुकान॥

[२२]

सस्मित वदन मत्तगजगमनी आई पति के पास।
वेश विलोक युवक के मुख में विकसित हुआ सुहास॥
उसने कहा—"प्रिये! मोहित हूँ नूतन देख विकास।
पर छिप सकता नहीं विमोहक तेरा नयन-विलास॥

[२३]

"तड़ित-नयन ये तेरे प्यारी! हैं सब भेद-निधान।
बतला देंगे ये चतुरों को झट तेरी पहचान॥
अब विलम्ब क्या? चलो प्रियतमे! जगती-मध्य सुदूर।
वन का दृश्य ध्यान में धर लो प्राणप्रिये! भरपूर॥

[२४]

यह प्रिय कुटी छोड़नी होगी अति सुखदायक गोद।
यह तरु लता और पशु पक्षी वन के विविध विनोद॥
फिर कब यहाँ लौटना होगा कह सकता है कौन"?

यह कह सजल नयन हो प्रणयी मुग्ध हुआ धर मौन॥

[२५]

विजया बोली–"प्राणाधिक प्रिय ! यह द्रुमलता-वितान।
तजना होगा, यह विचार कर बहुत विकल हैं प्राण ॥
शान्त सुखद क्या नाथ ! यहाँ से बढ़ कर है संसार ?
वन्य सखाओं से बढ़कर क्या है जग–जन का प्यार ॥

[२६]

देखा भी तो नहीं कि कैसा सुन्दर है संसार ?
अब तक था संसार मुझे तो यही लता–आगार ॥
सुनती हूँ संसार विषम है द्वेष कपट की खान।
क्यों चलते हो वहाँ कहो फिर मेरे प्रियतम प्राण !

[२७]

नाथ ! तुम्हारी आज्ञा से ही करती हूँ प्रस्थान।
पर इस लता-भवन के आगे है जग नरक समान" ॥
बोला प्रणयी—"प्राणवल्लभे ! ऐसी बात न बोल।
जग ही में जाना जाता है मनुष्यता का मोल ॥

[२८]

ईश्वर-भक्ति, लोक-सेवा है एक अर्थ दो नाम।
बन में बस कैसे हो सकता है मनुजोचित काम ॥
पृथिवी पर सुख शान्ति बढ़ाना देकर निज श्रम-शक्ति।
मनुष्यता का अर्थ यही है और यही हरि–भक्ति ॥

[२९]

"बाल-सखा इन बन-जीवों का प्रिये ! तजो अब मोह।
सहना ही होगा अब हमको इनका विषम बिछोह" ॥
चिरपरिचित वृक्षों से मिल कर देख बिहंग कुरंग।
तब आनन्दकुमार चल पड़े ले विजया को सङ्ग ॥

[३०]

धीरे धीरे धीरे दोनों चले विपिन-पथ बीच।
मानो उनका हृदय रहा था कानन पीछे खींच॥
पीछे देख आह भरते थे दोनों बारम्बार।
दीर्घ श्वास तज किया उन्होंने चिरपरिचित बन पार॥

[३१]

बीती निशा, उषा उठ आई पहन सुनहला चीर।
प्रणयी युगल विमोहित पहुँचे तरंगिणी के तीर॥
बँधी तटस्थ वृक्ष से नौका बंधन सत्वर खोल।
दोनों चढ़कर लगे चलाने प्रमुदित मन जय बोल॥

[३२]

इस विध तरी युगल प्रणयी की जा पहुँची मँझधार।
जहाँ गँभीर अथाह श्यामतल थी जल-राशि अपार॥
उसी समय हो गई प्रकृति अति क्षुब्ध नितान्त अशान्त।
दिशा भयानक हुई, कँप उठा व्योम-वारि-वन-प्रान्त॥

[३३]

क्षण में घन घिर आये करते कड़ कड़ गर्जन घोर।
बहा विषम विक्षिप्त प्रभंजन वृक्षों को झकझोर॥
होने लगी वृष्टि रिमझिम कर अविरत मूसलधार।
आन्दोलित लहरें तरणी पर करने लगीं प्रहार॥

[३४]

तरी लगी उलटने पलटने असित, विवश, निरुपाय।
'अब डूबे' 'तब डूबे' तरणी अनाधार असहाय॥
खड़े अर्ध जलमग्न तरी में दोनों प्रणयी धीर।

करना है जल-गर्भ-वास अब पहुँच न सकते तीर॥

[३५]

देख प्रकृति का कोप भयानक बोला प्रणयी वीर।
प्रिये ! हमें अब तजना होगा यह क्षणभंगु शरीर॥
देह त्यागने का है मुझको प्रिये ! न तिल भर खेद।
जागृति और स्वप्न सा मरने जीने में है भेद॥

[३६]

"खेद यही है हुआ न पूरा मेरा मनोभिलाष।
इस तन से स्वदेश-सेवा की रही न अब तो आस॥
आओ एक बार प्राणेश्वरि ! लें हम भुज भर भेंट।
शय्या करें अतल जल में फिर आशा सकल समेट॥

[३७]

"मैं संगिनी सदा हूँ प्यारे" बोली हँसकर बाल।
कण्ठ-समर्पित हुये उभय के बाहुमाल तत्काल॥
मुख चुम्बन कर, देख एकटक, फिर दृगपट कर बन्द।
धारण कर प्रिय-मूर्ति हृदय में पाकर परमानन्द॥

[३८]

वे स्वर्गीय शान्ति से भूषित प्रेमी शोक-विहीन।
जीवनमयी तरी के सँग में जल में हुए विलीन॥
प्रकृति थिर हुई, पवन थम गया, सब हट गये पयोद।
जागृत हुआ चराचर में फिर सुख आमोद प्रमोद॥

[३९]

अंशुमालि के शुभागमन की बेला समझ समीप!
नभ में बुझा चुके थे सुर भी निज निज घर के दीप॥
कलरव, सुमन-विकास संग ले निकली रवि की कोर।
क्षणभर पहले ही दो प्रेमी कहाँ गये ? किस ओर ?

[४०]

फिर पहिले सा सुगम सम हुआ तरंगिणी का पाथ।
तरी कहाँ है ? सद्य प्रस्फुटित कुसुम-कली ले साथ॥
कुमुद कुमुदिनी मुँदे देखकर प्रखर दिनेश-प्रकाश।
नहीं निकलने भी पाया था विश्व-विमोहक वास॥

दूसरा परिच्छेद

[१]

गगन-नीलिमा में हीरे का तेजपुंज अभिराम।
एक पुष्प आलोकित करता था जल-थल-नभ-धाम॥
बरछी सी उसकी किरनों से खाकर गहरी चोट।
अंधकार हो क्षीण छिपा जा तरु-पत्तों की ओट॥

[२]

पूर्व क्षितिज से कुछ ऊपर उठ वह अति विमल प्रकाश।
करता था सब सचराचर की निद्रा तन्द्रा नाश॥
तरल तरंगित सरित-सलिल में उसकी प्रभा ललाम !
लहक रही थी, ज्यों झड़ते हों रजत-पुष्प अभिराम॥

[३]

दिव्य मूर्ति मुनि एक तपोधन शांत-वृत्ति मतिधीर।
भरते थे जलपात्र नीर से उस तटिनी के तीर॥
बहता देख एक शव जल में उन्हें हुआ संदेह।
सदय हृदय कौतूहलवश हो धर ली बढ़कर देह॥

[४]

बाहर लाकर पुरुष-वेश में देखा नारी-रत्न।
कांति देख मुख पर जीवन की मुनिवर हुये सयत्न॥
झट निकटस्थ कुटी में शव को लाकर कर उपचार !
मुदित हुये चैतन्य बनाकर मुनि सद्गुण आगार॥

[५]

उठ बैठी वह चकित मृगी सी पुरुष-वेशिनी वाम।
देख सामने मुनिको उसने किया सप्रेम प्रणाम॥
इधर उधर वह लगी देखने ठौर अपरिचित जान।
रहा न अपने पुरुष-वेश का उसे उस समय ध्यान॥

[६]

फिर उसने अति व्याकुलता से खोले अधर-प्रवाल।
कहा—"कहाँ हूँ कहो कृपाकर हे मुनि! मैं इस काल॥
कहाँ गया प्राणेश्वर मेरा? शीघ्र कहो मुनिनाथ!
हम दोनों जल-मग्न हुये थे प्रभो! एक ही साथ॥

[७]

"प्रियतम बिना न जी सकती हूँ बच न सकेंगे प्राण"।
अश्रु गिराकर व्याकुलता का दृगने दिया प्रमाण॥
नारी उसको जान चुके थे पहले ही मुनिवर्य।
इससे हुआ न उनको उसकी बातें सुन आश्चर्य॥

[८]

वे बोले अति स्नेह-भाव से, "पुत्री! हो न हताश।
जाता हूँ मैं शीघ्र खोजने तेरे पति की लाश॥
पर जबतक मैं लौट न आऊँ जाना कहीं न और।
यहाँ रहो सुख से हे बेटी! है यह निर्भय ठौर"।

[९]

यों कह चले तीर को द्रुतपद पर-हित-साधन-व्यग्र।
प्रथम किया अन्वेषण मुनि ने तट निकटस्थ समग्र॥
देख न पड़ी कहीं जब बहती जल में कोई लाश।
तब मुनि चले प्रवाह-दिशा में करते हुये तलाश॥

[१०]

उस एकान्त कुटी में क्षण भी रख न सकी मन शांत।
विजया हुई विरह से व्याकुल श्रांत क्लांत उद्भ्रांत॥
बाहर आकर लगी देखने कानन का शृङ्गार।
पर प्रिय-दर्शन-तृषित दृगोंमें था न प्रकृति-प्रति प्यार॥

[११]

प्रेम विचित्र वस्तु है जग में अद्भुत शक्ति-निधान।
निद्रा में जागृति, जागृति में है वह नींद समान॥
प्रेम-नशा जब छा जाता है आँखों में भरपूर।
सोना जगना दोनों उनसे हो जाते हैं दूर"॥

[१२]

प्रेम एक है पर प्रभाव है उसका युगल प्रकार।
प्रेम सयोग वियोग काल में सुखप्रद, दुखद अपार॥
फूल विहीन गन्धसे जैसे चन्द्र चन्द्रिका-हीन।
योंहीं फीका है मनुष्यका जीवन प्रेम-विहीन॥

[१३]

प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है, प्रेम-रूप भगवान।
प्रेम विश्व का संस्थापक है, प्रेम विश्व का प्राण॥
प्रेम जाति का जीवन जग में, प्रेम अभेद अशोक।
प्रेम सभ्यता का भूषण है, प्रेम हृदय-आलोक॥

[१४]

जग की सब पीड़ाओं से है होता हृदय अधीर।
पर मीठी लगती है उर में सत्य प्रेम की पीर॥
व्याकुल हुआ प्रेम-पीड़ा से जिसका कभी न प्राण।
भाग्यहीन उस निष्ठुर का है उर सचमुच पाषाण॥

[१५]

जिस पर दया-दृष्टि करते हैं मंगलमय भगवान।
पूर्ण प्रेम-पीड़ा से पीड़ित होता है वह प्राण॥
जिसने अनुभव किया प्रेम की पीड़ा का आनन्द।
उससे बढ़ है कौन जगत में सुखी और स्वच्छन्द॥

[१६]

प्रेमोन्मत्त हृदय में रहता है न विरोध न क्रोध।
दुर्गुण नहीं प्रेम-पथ का कर सकता है अवरोध॥
मधुर प्रेम-वेदना-मुग्ध जन सुख निद्रामय मस्त।
है देखता प्रेम-छवि दृगभर फिरकर जगत समस्त॥

[१७]

फूल पंखड़ी में पल्लव में प्रियतम-रूप निहार।
तुरत उमड़ आता है उसके उर में मोद अपार॥
कली देख करने लगता है हास्य प्रमत्त-प्रलाप।
"देखें कबतक इन पत्तों में लुके रहेंगे आप"॥

[१८]

ज्योत्स्ना कभी सरित जल में है करती केलि-विलास।
उज्ज्वल विमल रजत कणिकामय रेत राशि पर वास॥
प्रेम भरे अधखुले दृगों से शशि को देख सहास।
प्रेमी समझ मुग्ध होता है प्रियतम-हास-विकास॥

[१९]

उसे प्रेममय लगता है सब सचराचर संसार।
प्रेम-मग्न करता है वह नित प्रेमोद्यान-विहार॥
प्रेम-वेदना-व्यथित हृदय से मथित प्रेम की आह।

कढ़कर भूतल में भरती है नवजीवन उत्साह॥

[२०]

करुणा भरे प्रेम के आँसू ढलकर सुधा समान ।
सींच दया की जड़ देते हैं जग को आश्रय-दान ॥
जन जनमें प्रेमी को दिखती है प्रियतम की कांति ।
इससे उसे लोक-सेवा में मिलती है अति शांति ॥

[२१]

पीड़ित की पीड़ा, भूखे की क्षुधा, तृषित की प्यास ।
उदासीनता निराश्रयों की, आशारहित उसास ॥
क्रशित जातिके उन्नति-पथ के कंटक चुन कर दूर ।
प्रेमी परम तृप्त होता है आह्लादित भरपूर ॥

[२२]

दया नहीं, कर्त्तव्य नहीं, वह है न किसी का दास ।
है चाहता देखना वह तो प्रियतम-रूप-विकास ॥
रूप कहाँ है ? आर्त्त-मुखों पर प्रकृत हर्ष का हास ।
जब खिलता है, देखो उस में प्रियतम-रूप-विकास ॥

[२३]

रे मतिमन्द ! न कर प्रेमी को वन्दीगृह में बन्द ।
कर देगा वह अन्य बन्दियों को भी चिर स्वच्छन्द ॥
हैं स्वतंत्र प्रभु, स्वतन्त्रतामें बसते हैं भगवान ।
प्रेमी उन्हें प्रत्यक्ष करेगा करके विविध विधान ॥

[२४]

अकथनीय है प्रेम-पीड़ितों की सब अद्भुत बात ।
वास कहाँ है ? जहाँ जा बसे, सन्ध्या कहीं प्रभात ॥
प्रेम-विह्वला विरह-विताड़ित विजया परम अधीर ।
छोड़ कुटीर चली खिँचती सी तरंगिणी के तीर ॥

[२५]

तीर पहुँच कर देखी उसने सलिल-राशि गम्भीर।
सतत प्रवाहित पूर्व दिशा में समय समान अधीर॥
ठीक दोपहर, व्योम-मध्य रवि, प्रखर समुज्वल धूप।
सरित-मुकुर में देख रहे थे दिननायक निज रूप॥

[२६]

रूप-गर्विता तरंगिणी का था सब सुन्दर अङ्ग।
छवि छलकी पड़ती थी मानो तटपर चढ़ी तरङ्ग॥
पतिप्राणा सम नदी मित्र की प्रतिछवि उर में धार।
गमनशील थी कलकलस्विनी करती हुई विहार॥

[२७]

देख सरित-शोभा विजया के लगी घाव में ठेस।
बोली, "ठगिनी सा है तेरा सरिते! मोहक भेस॥
तू ने मेरे जीवन-धन को लिया अचानक छीन।
देख न सकी हाय! सुख मेरा, रे विषमना मलीन!

[२८]

शोक मान मेरी विपत्ति में सब ने तजा विलास।
खग ने गान, लता ने हिलना, मृग ने गमन-प्रयास॥
मुझे अभागिन विधवा कर तू हुई न तनक उदास।
अठिलाती नाचती चली तू कलकल कर उपहास॥

[२९]

प्राणनाथ-रवि बिना पड़ा है सूना हृदय-अनन्त।
मृदुल लता कर ग्रीष्म-हस्तगत बिछुड़े कहाँ बसन्त॥
हा! स्वदेशसेवा-व्रत-तत्पर सद्गुण के आगार!
बिना तुम्हारे कौन करेगा प्रियतम! देशोद्धार॥

[३०]

तुम से थी उर में भविष्य के शुभ आशा उत्पन्न।
उसे न करो हृदय-धन मेरे वञ्चित और विपन्न॥
स्नेह-मूर्त्ति पर-हित-रत सत्तम करुणा के अवतार।
हाय! कहाँ हैं, भँवर-ग्रसित नैया के मुनि पतवार॥

[३१]

हाय! पूर्वकृत पापों का क्या हुआ समाप्त न भोग।
जो मैं जाग उठी सहने को विषवत विषम वियोग"॥
विजया, प्रेम-विनिद्रित विजया, विसुध चेतनाहीन।
प्रियतम! प्राणेश्वर! पुकारती कुररी सी अति दीन॥

[३२]

चली नदी-तट-पथ से चलते चलते पश्चिम ओर।
ठौर मिला, जीवन-सन्ध्या का जहाँ हुआ था भोर॥
कृशता,तरणि-ताप,पथ-श्रम,फिर विरह-ताप विकराल।
सुधि प्रभात की घृत आहुतिसी बाल न सकी सँभाल।

[३३]

प्रेमोन्मादमयी विरहिन से सहा न गया कलेश।
कूदी नदी-अङ्क में कहकर हा! प्रियतम! प्राणेश!॥
जब विक्षिप्त तप्त सिर ऊपर पड़ा सुशीतल नीर।
जागी शक्ति चेतना की फिर श्रमगत हुआ शरीर॥

[३४]

हेमाङ्गिनी नीर से निकली विगत सकल सन्ताप।
बोली—"हाय, हो रहा था यह मुझ से भीषण पाप॥
किया दृगों ने प्राणेश्वर की रूप-सुधा का पान।
श्रवणों ने है सुना मनोहर उनका मंगल गान॥

[३५]

सुखी हुये ये भुज वेष्टन कर प्रियतम-कंठ-प्रदेश।
कई वार उनके हाथों से सुलझे थे यह केश॥
मुझे उचित है नहीं छोड़ना इन अंगों का साथ।
इन से बहुत प्यार करते थे मेरे जीवन-नाथ॥

[३६]

अब कर्त्तव्य यही है पूरा करूँ वही उद्देश।
जिनकी पूर्त्ति-हेतु उद्यत थे मेरे प्रिय प्राणेश॥
पति-अभिलाष पूर्ण करना ही है मेरा ध्रुव धर्म।
सदा करूँगी मैं स्वदेश की सेवा का शुभकर्म॥

[३७]

जिस प्रकार से अब स्वदेश का होगा पुनरुत्थान।
वही करूँगी यत्न अहर्निश देकर तन मन प्रान"॥
इस प्रकार विजया दृढ़ता से करती थी मन शान्त।
उसी समय में एक शब्द से ध्वनित हुआ वन-प्रान्त॥

[३८]

जैसे किसी मनुष्य के लिये कोई उठा पुकार॥
मुनि का शब्द समझ कर विजया दौड़ी वृत्ति बिसार॥
काँटों में उलझती सुलझती गिरती पड़ती बाल।
फिर प्रज्वलित हुई उर अन्तर विरह वन्हि बिकराल॥

[३९]

हा प्रियतम ! प्राणेश ! प्राणधन ! करती हुई पुकार।
बहुत दूर घुस गई विपिन में मिला न वार न पार॥
कहाँ जाय, क्या करे, न पथ है, न है दिशा का ज्ञान।
विरह-विदग्ध हृदय में उसके उमड़ा शोक महान॥

[४०]

चारों ओर खड़े थे केवल अगणित वृक्ष विशाल।
कभी कभी गर्जन कर उठते थे वन-जन्तु कराल॥
प्रेम-विवश सहती सब संकट अति व्याकुल बेहाल॥
एक वृक्ष के तले बैठकर रोई अबला बाल॥

* तीसरा परिच्छेद *

[१]

कुछ पथ तै कर पूर्ण हो गया मुनि का मनोभिलाष।
देख पड़ी बहती धारा में एक युवक की लाश॥
होती देख सफलता श्रम में मुनिवर हुये प्रसन्न।
जल में घुस शव ले बाहर हो हुये यत्न-सम्पन्न॥

[२]

युक्ति-विलक्षण कला-निपुण मुनि करके द्रुत उपचार।
हुये मुदित अवलोक देह में कुछ समीर-संचार॥
युवक सजीव हुआ पर उसकी मूर्च्छा हुई न भङ्ग।
चलती थी बस साँस, नहीं हिलता था कोई अङ्ग॥

[३]

उसे कुटी में ले आये मुनि पर-हित-साधक वीर।
विस्मित हुये बिना विजया के सूनी देख कुटीर॥
कुश-किशलय की विमल साथरी धूनी के नजदीक।
शीघ्र बिछा मुनि ने पौढ़ाया उस पर युवक-प्रतीक॥

[४]

फिर "पुत्री!" कह लगे खोजने आसपास वन-पाथ।
बहुत बुलाया, पर वह तो थी फँसी प्रेम के हाथ॥
कुछ धीरज से ही हो जाती पूरी मन की बात।
पर वह बात नहीं होने ही उसे प्रेम ने ज्ञात॥

[५]

भ्रम में फँस हँसता रोता है करता मेल अमेल।
प्रेम-विवश करता मनुष्य है, नये नये नित खेल॥
वर्तमान भावी दोनों के बीच निमिष का एक।
परदा डाल प्रेम करता है अर्थ अनर्थ अनेक॥

[६]

बहुत खोजने पर जब विजया मिली न तब तज आस।
कुछ चिन्तित होकर आ बैठे मुनि धूनी के पास॥
धूनी की गर्मी से भागी शीत छोड़ आधार।
नस नस में हो चला युवक के शोणित का संचार॥

[७]

सिकुड़न रहित ललाट ललित अति उन्नत कला-निधान।
पौरुष-पूर्ण विशद वक्षस्थल वृषभ-कन्ध बलवान॥
परिघ-समान प्रलम्ब युगल भुज पृथुल कठिन भुजदण्ड।
अङ्ग अङ्ग से छलक रही थी शोभा शक्ति प्रचण्ड॥

[८]

मनोभाव-भूषित मुख-मण्डल सुन्दर अति गम्भीर।
मुग्ध हुए मुनि देख युवक का गठित बलिष्ठ शरीर॥
मुनि सतृष्ण नेत्रों से उसकी ओर निहार निहार।
करने लगे आह भर शीतल मन में विविध विचार॥

[९]

"जैसी है इसके शरीर की गठन सुरूप-निधान।
उससे तो निश्चय यह होगा कोई पुरुष महान॥
अर्द्धचन्द्र-सम भाल सुचिक्कण मुखका भाव गँभीर।
बतलाता है, यह अवश्य है ब्रह्मचर्य-व्रत-धीर॥

[१०]

इसका है शरीर ही इसके संयम का सुप्रमाण।
तो क्या होगा नहीं हृदय में देशभक्तिमय प्राण ?
सुन्दर रूप रुचिर आकृतिमय शोभित मंजु विकास।
सुमन सुगन्ध-रहित है, कैसे करें शीघ्र विश्वास !"

[११]

यदि स्वदेश-सेवा-व्रत धारण कर ले यह नररत्न।
तो अपने अभीष्ट साधन का समझूँ सफल प्रयत्न॥
मुनि यों विरच रहे थे मन में प्रिय कल्पना कलाप।
उसी समय वह युवक स्वप्न-वश करने लगा प्रलाप॥

[१२]

"विजया ! प्रेम रूपिणी विजया ! प्राणवल्लभे ! वाम !
तूने यह पूछा है मुझसे प्रश्न बड़ा अभिराम !
यही पूछती हो न, प्राणमयि ! मेरे हृदय-मँझार।
तेरा ? या स्वदेश-सेवा का ? किसका बढ़कर प्यार ?

[१३]

यदि तू रहे देश-सेवा में मेरे सँग सब ठौर।
तो तुझसे बढ़कर इस जग में प्रिय है मुझे न और"॥
चुप हो रहा युवक यह कह कर देश-भक्तिमय बात।
सुन मुनि हुये प्रफुल्लित पुलकित अति रोमाञ्चित गात।

[१४]

गद्गद कण्ठ हुआ; उर-भीतर उमड़ा हर्ष अपार।
प्यार भरे नयनों से मुनि के बही प्रेम की धार॥
दोनों हाथ जोड़ कर मुनि ने हरि को किया प्रणाम।
मिला दया से जिसकी ऐसा देशभक्त सुत आज॥

[१५]

धीरे धीरे कुछ घण्टों में हुई शिथिलता दूर।
युवक प्रसन्न वदन उठ बैठा शान्त स्वस्थ भरपूर॥
घटना स्मृति-पट पर प्रभात की छाया सी अति क्षीण।
थी अङ्कित, पर ध्यान न आया, था मन अति स्वाधीन॥

[१६]

मुनि को देख प्रणाम किया फिर ठौर अपरिचित देख।
झलक पड़ी उसके मुख-मंडल पर विस्मय की रेख॥
उसने कहा, "कहाँ हूँ मैं अब, है यह किसका धाम?
किसने करके दया दिया है मुझे यहाँ विश्राम"?

[१७]

मुनि ने कहा, "तुम्हारा हे सुत! मृतक समान शरीर।
पाया था मैंने प्रवाह में तरंगिणी के तीर॥
परमेश्वर की अतुल दया से तुम फिर हुये सजीव।
देख तुम्हें चैतन्य, हुआ है मुझको हर्ष अतीव"॥

[१८]

अब सुधि में आई प्रभात की घटना भरी विषाद।
आहत हुआ युवक मन ही मन विजया की कर याद॥
पूछा उसने, "हे मुनि! कोई लाश मिली क्या और"।
मुनि ने कहा, "तुम्हीं थे केवल मुझे मिले उस ठौर"॥

[१९]

मुनि ने नहीं कहा विजया के मिलने का वृत्तान्त।
सोचा, चित्त कदाचित सुनकर होगा अधिक अशांत॥
बोले फिर, "हे सुत! तुम अपना परिचय करो प्रदान।
किस कारण से तुमने जल में किया समर्पण प्राण"!

[२०]

बोला युवक उसास खींचकर, "मुनि तप-तेज-निधान।
कथा बड़ी विस्तृत है मेरी घटनाओं की खान॥
पर मुनिवर! मैं नहीं आपकी आज्ञा सकता टाल।
थोड़े में, संक्षिप्त रूप से कहता हूँ सब हाल॥

[२१]

इसी देश, इटली में मेरे पिता परम मतिमान।
मिलन नगर के अधिवासी थे धन, गुण गौरववान॥
अल्प वयस्क मुझे प्रिय जननी गई जगत में छोड़।
क्रीड़ास्थल मेरा उस दिन से रहा पिता का क्रोड़॥

[२२]

अबकी भाँति मचा था तब भी दुखमय हाहाकार।
निठुर आष्ट्रियन नित करते थे अगणित अत्याचार॥
सुनकर दुसह दीन दुखियों की हृदय-विदारक हाय।
करने चले पिता रक्षा का उनकी उचित उपाय॥

[२३]

राजकर्मचारीगण इससे हुये सरोष सकोप।
न्यायालय में किया बुलाकर मिथ्या दोषारोप॥
दिये गये कितने प्रमाण पर सिद्ध न हुआ उपाय।
कर्मचारियों ने करवाया मनमाना अन्याय॥

[२४]

कर्मचारियों से ले करके न्यायी ने उत्कोच।
किया घोर अन्याय, न्याय के नाम बिना सङ्कोच॥
अर्थदंड से दिया पिता को अच्छी तरह दबोच।
उपजा प्रबल पिता के उर में शांति-विमोचन सोच॥

[२५]

उच्च न्यायियों के समीप तक करते हुए पुकार।
पहुँचे पिता, परन्तु वहाँ भी हुआ विनय वेकार॥
वे हाकिम अन्याय-समर्थक पाये गये तमाम।
अत्याचारी को भाता है कहाँ न्याय का नाम॥

[२६]

तब से पिता मग्न रहते थे चिन्ता में दिन रात।
राजकर्मचारी फिर करने लगे नये उत्पात॥
मेरे पुर के पास विपिन में एक साधु विद्वान।
रहते थे, उनका करते थे पिता बहुत सम्मान॥

[२७]

एक दिवस क्या हुआ, समाई उनके जी में बात।
मुझे गोद ले चले विपिन को तज घर पुर सब नात॥
पहुँच कुटी में कहा साधु से विनय सहित कर जोड़।
"मैंने दिया आज से अपना धाम धरा धन छोड़॥

[२८]

अब असह्य हो गया प्रजा पर प्रतिदिन अत्याचार।
सुना नहीं जाता है मुझसे उनका हाहाकार॥
बढ़ता ही जाता है उनमें दुर्गुण वैर विरोध॥
जान बूझकर किया जा रहा है गुण का अवरोध॥

[२९]

बैर विरोध प्रजा के हित के है सदैव प्रतिकूल।
पर है वही कुनीति-तन्त्र का सब से मोटा मूल॥
है न प्रजा के जिसकी भाषा भेस स्वभाव समान।
वह उनके हित पर कब देगा किस मतलब से ध्यान!

[३०]

प्रजा रुष्ट है इस कुतन्त्र से, निश्चय होगी क्रान्ति।
अत्याचार हटा कर तब मैं ग्रहण करूँगा शान्ति॥
गुरु सम मान्य आप हैं मेरे भ्राता मित्र समान।
यह प्रियपुत्र आज से मैंने किया देश को दान॥

[३१]

देकर देशभक्ति की शिक्षा करके सुदृढ़ विचार।
करियेगा स्वदेश-सेवा के लिये इसे तैयार॥
हो यह बड़ा, इसे कहियेगा मेरा यह सन्देश।
"है स्वातन्त्र्य मिलन का तेरे जीवन का उद्देश"॥

[३२]

यह कह पिता गये घर तजकर कहाँ ? मुझे अज्ञात।
रहने लगा उसी दिन से मैं कुटिया में दिनरात॥
मुझ से कुछ छोटी कन्या थी साधु देव के एक।
हम दोनों को लगे पढ़ाने वे सहर्ष सविवेक॥

[३३]

हम दोनों थे साथ खेलते, पढ़ते, करते गान।
दो तन थे, पर हम दोनों के हुये एक मन प्रान॥
कुछ दिन बाद साधु का आया अन्तिम काल समीप।
हमने समझा, आज बुझेगा इस कुटिया का दीप॥

[३४]

बुला साधु ने मुझे सुनाया पिता-कथित सन्देश।
फिर हम दोनों को देकर अति मङ्गल-प्रद उपदेश॥
मुझसे पाणि-ग्रहण कराया कन्या का सानन्द।
स्वर्ग सहर्ष सिधारे सत्तम सुधी साधु स्वच्छन्द॥

[३५]

मुनि की आज्ञा से यद्यपि था पकड़ा उसका हाथ।
पर गृहस्थवत भाव नहीं था मेरा उसके साथ॥
उस स्वाध्वी शिक्षिता सती का था विजया शुभ नाम।
शोक, आज सरिता में उसने पाया चिरविश्राम॥

[३६]

प्रेममयी विजया से मुझको मिलता था आह्लाद।
पर संदेश पिता का हरदम रखता हूँ मैं याद॥
जब तक देश स्वतन्त्र न होगा मिटकर अत्याचार।
तब तक मैं संयमी रहूँगा ब्रह्मचर्य-व्रत धार॥

[३७]

निज जीवन में पूर्ण करूँगा अपना मनोभिलाष।
खेद यही है, विजया की भी पूरी हुई न आश"॥
युवक चुप हुआ, उसके मुख पर छा आया कुछ शोक।
सुनकर मुनि अति मुग्ध हर्ष के आँसू सके न रोक॥

[३८]

कुछ क्षण के उपरान्त युवक फिर बोला—"हे मुनिराज!
कृपया मुझे बताओ कैसे करें देश का काज।
क्या क्या विघ्न पड़ेंगे इसमें, कैसे होंगे दूर।
निज अनुभूत ज्ञान से हे मुनि! मुझे करो भरपूर"॥

[३९]

बोले मुनि "हे पुत्र! देश की है गति अति प्रतिकूल।
धीरे धीरे क्षीण हो रहा है स्वजाति का मूल॥
जहाँ स्वर्ग-सुख भोग रहे थे अति प्रसन्न सब लोग।
आज वहाँ पर गरज रहे हैं नित दुकाल दुख रोग॥

[४०]

नरक-यन्त्रणा से बढ़कर है छाया संकट घोर।
मानव-दल में मची हुई है त्राहि त्राहि सब ओर॥
अन्न नहीं है, वस्त्र नहीं है, उद्यम का न उपाय।
बन भी नहीं ठौर टिकने को कहाँ जायँ क्या खायँ!

[४१]

लाखों नहीं, करोड़ों को है सुख से हुई न भेंट।
मिलता नहीं जन्मभर उनको खाने को भर पेट॥
दिखती नहीं किसी के मुँह पर प्रसन्नता की रेख।
भ्रमते हुये पेट-चिन्ता में पड़ते हैं सब देख॥

[४२]

चोरी जारी छल प्रपंच अघ आडम्बर पाखंड!
बढ़ते जाते हैं जनता में दुर्गुण परम प्रचंड॥
सब का एक मूल कारण है, दरिद्रता विकराल।
भौन भौन में भरे भूत से भूखे नर-कंकाल॥

[४३]

इस कुतन्त्र में तो दरिद्रता कभी न होगी दूर।
यह कर देगा शीघ्र जाति को निर्बल चकनाचूर॥
जब तक इस कुतंत्र-बंधन से होंगे हम न स्वतंत्र।
तब तक सिद्ध न हो सकता है कोई हितकर मंत्र॥

[४४]

कैसा है सुगंधमय सुन्दर यह गुलाब का फूल।
पर इसकी डालों में हैं ये कैसे तीखे शूल॥
लोग चूमते चिपकाते हैं उर से प्यारा फूल।
शूल बिना उसका कब बचता डाल पात तन मूल ?

[४५]

पर यह जाति नितान्त सरल है निरी दयालु उदार।
उठा रहे हैं लोग निरंकुश इससे लाभ अपार॥
तुमको इसके उन्नति-पथ में बहुत मिलेंगे कष्ट।
यत्न स्वारथी सदा करेंगे करने को पथ-भ्रष्ट॥

[४६]

पर तुम नहीं हिचकना बेटा! करना मन न उदास।
रखना सदा आत्मबल ऊपर अटल अचल विश्वास॥
आते हैं विघ्नों के झोंके बारम्बार प्रचण्ड।
गिरते हैं तरु, पर रहता है गिरिवर अटल अखण्ड॥

[४७]

पहिये को देखो, यदि पृथ्वी करे नहीं अवरोध।
क्या वह आगे बढ़ सकता है करके भी अति क्रोध?
विघ्नों ही से कर सकता है उन्नति को बल प्राप्त।
विघ्न मिटा, समझो उन्नति की गति हो गई समाप्त॥

[४८]

विघ्नों से जाकर भिड़ जाना सम्मुख सहना तीर।
ऐसा साहस ही कर देगा अमर अभेद्य शरीर॥
जो रहती है जाति जगत में मरने को तैयार।
वही अमरता का पाती है ईश्वर से अधिकार॥

[४९]

बेटा! जाओ, करो जाति-हित के सब उत्तम काम।
शुभ अभिलाषा का देता है ईश्वर शुभ परिणाम॥
मन उन्नत करना जनता का मिथ्या भय कर दूर।
संग्रह करते रहना चुनकर सबल साहसी शूर॥

[५०]

कभी किसी से घृणा न करना मत करना बकवाद।
विरोधियों की चाल समझना, करना नहीं प्रमाद॥
जाओ मिल करके समाज में काम करो चुप चाप।
जैसा हो चाहते बनाना पहले बनना आप॥

[५१]

देशभक्त का हृदय बड़ा ही होता है बलवान।
शय्या काँटों की लगती है उसको फूल समान॥
विचलित उसे न कर सकता है कभी मान अपमान।
उसे कहाँ सुधि कष्टों की है, है वह प्रेम-निधान॥

[५२]

इसी समय मैं भी करता हूँ तज यह कुटी प्रवास।
ठीक समय पर मैं पहुँचूँगा पुत्र! तुम्हारे पास॥
मंगलमय हो मार्ग तुम्हारा, हो तुम पूरण काम।
पुत्र! सुयश की अमर गोद में पाओ तुम विश्राम॥

---

* चौथा परिच्छेद *

[१]

परम प्रेम-पागलिनी विजया भरती आह उसास।
कई मास तक रही भटकती किया न कहीं निवास॥
वन वन में गाती फिरती थी चुनती फिरती फूल।
रटती हुई प्राणप्यारे को, गई जगत को भूल॥

[२]

पल्लव लता कुसुम कलियों को करती थी अति प्यार।
वन के पशु पक्षी से भी वह रखती प्रेम अपार॥
जा पहुँची पथ भूल एक दिन एक गाँव के पास।
था प्रभात का समय हर्ष का, पर था गाँव उदास॥

[३]

जाड़े के थे दिवस, माघ का मास, भयानक शीत।
काँप रहे थे दीन घरों में वस्त्र-हीन भय-भीत॥
देखा, केवल चर्माच्छादित एक मनुज-कंकाल।
फटा पुराना एक अँगोछा पहने परम बिहाल॥

[४]

बाहुबद्ध कर पदस्तम्भ को चिन्ता-ग्रसित अधीर।
घुटनों-मध्य चिबुक रख कंपित थर थर अबल शरीर॥
आशा धरे धूप की उर में पीठ किये रवि-ओर।
बैठा है; पर हाय ! निर्दयी घिर आये घन घोर॥

[५]

इस पर भी चल पड़ा तीर सा तीक्ष्ण तुषारित पौन।
दाँत बज उठे, सिकुड़ गया वह, तुहिन-निपीड़ित मौन॥
कहने लगा, "किया था मैंने हाय ! कौन सा पाप।
हे भगवान ! मिल रहा जिसका फल है यह सन्ताप"॥

[६]

वह सामने द्वार के अपने बैठा था अति दीन।
घरमें उस की दुखिया गृहिणी थी तन छीन मलीन॥
बालक एक फूल मुरझा सा चिपकाये थी गोद।
उदासीनता दरिद्रता का था आमोद प्रमोद॥

[७]

ओढ़ घास की बनी चटाई बिछा भूमि पर घास।
वे सोते थे पास पास ही प्रायः कर उपवास॥
उसी चटाई के नीचे से उठ वह नर-कंकाल।
आ बैठा था घाम के लिये बाहर प्रातःकाल॥

[८]

विजया आ बैठी ढिग उस के थर थर कम्पित गात ।
विषम हृदय-वेधक बहता था शीतल हिममय वात ॥
विजया का हिम से विलोककर करुणोत्पादक हाल ।
द्रवीभूत हो गया दया से वह मानव-कंकाल ॥

[९]

घर में जाकर निज गृहिणी से माँग चटाई घास ।
ले आया पावक पड़ोस से झट विजया के पास ॥
विजया को दी उढ़ा चटाई निकट जला दी आग ।
विजया मोहित हुई देख कर उस गरीब का त्याग ॥

[१०]

उसने उसे पास बैठाया पूछा प्रेम समेत ।
"क्यों भाई ! तुम बड़े दीन हो, क्या है इसका हेत" ?
बोला दीन उसास खींच कर, "मैं हूँ एक किसान ।
साधारण खेती बारी से पाल रहा था प्राण ॥

[११]

मैं; हूँ, मेरी घरवाली है, गोद एक है बाल ।
सुख दुख से थोड़ी आमद में कट जाता था काल ॥
कई दिन हुये, एक लोकप्रिय सज्जन पर हो क्रुद्ध ।
रच षड़यन्त्र राजदूतों ने उसके मान-विरुद्ध ॥

[१२]

करना चाहा मुझे गवाही देने को तैयार ।
पर मैंने असत्य भाषण से किया साफ़ इन्कार ॥
इससे मुझ पर कुपित हुये वे करके कोप कराल ।
मुझे फँसवाया निरपराध ही झूठ बना कर जाल ॥

[१३]

अन्न वस्त्र बरतन बिकवा कर घर में जो था माल।
सब धन लिया छीन निष्ठुर हो मैं अब हूँ कंगाल॥
है न एक दाना खाने को प्रायः कर उपवास।
सो जाता हूँ यहीं चटाई ओढ़ बिछाकर घास॥"

[१४]

इतना कह आँखें भर आईं रोया सिसक किसान।
विजया भी सिर नीचा करके रोने लगी निदान॥
मनमें कहने लगी—"अहा! है निपट गरीब किसान।
पर उदारता से भूषित है इसका हृदय महान॥

[१५]

इनकी सेवा करना ही था प्रियतम का उद्देश।
अब मैं वही पूर्ण करने को घूमूँगी सब देश॥
इनके ऊपर पड़ी हुई है छाया अति प्रतिकूल।
उसे हटाने से ही होगा उन्नति का दृढ़ मूल॥

[१६]

सेवा-धर्म मुख्य है जग में लोक-शांति-प्रद काज।
एक दीन ने प्रबल प्रेम की धार पलट दी आज॥
प्रियतम को ढूँढना बनों में है उन्मत्त-प्रयास।
वास्तव में है दीन-जनों के सुख में उसका वास॥

[१७]

प्रियतम ने भी कहा यही था कैसा वचन अमोल!
"जग ही में जाना जाता है मनुष्यता का मोल"॥
आश्वासन दे उस किसान को विजया उठ तत्काल।
गाँव गाँव में घूम देखने लगी देश का हाल॥

[१८]

देखा उसने उसी भाँति के अगणित नर-कङ्काल।
चिपके पेट रीढ़ से जिनके चुचके पुचके गाल॥
विजया ने प्रण किया सुदृढ़ हो, कर प्रयत्न भरपूर।
तन मन दे इस दीन देश का कष्ट करूँगी दूर॥

[१९]

बहका कर इन बेचारों को ठगते हैं ठग लोग।
बदले में इनको देते हैं दंड दीनता रोग॥
इनको बना ज्ञान से वंचित वे करते हैं राज।
हाय! हाय! इस अधम स्वार्थ पर पड़ी न अवलौं गाज॥

[२०]

विजया सत्य प्रेम से अपना करके कायाकल्प।
चली लोक-सेवा करने को होकर दृढ़ संकल्प।
उस दिन से देखा न किसी ने फिर उसका वह रूप।
देख पड़ी वह एक गाँव में सन्यासिनी स्वरूप॥

[२१]

लिये त्रिशूल हाथ में करने चली देश-उद्धार।
गाँव गाँव में लगी घूमने सेवा-व्रत उर धार॥
द्वार द्वार पर जाकर विजया करुणा-प्रेम-निधान।
सब को लगी जगाने गाकर देशभक्ति मय गान॥

[२२]

उसके गान अतीत काल के थे सुख रूप ललाम।
सुन करके आहें भरते थे कृषक कलेजा थाम॥
उसके गान हृदय में भरते थे साहस उत्साह।
बतलाते थे स्वतन्त्रता की सुख पाने की राह॥

[२३]

उसके गान-श्रवण की पक्षी पशु तक में थी चाह।
उनका भी कुराज्य में सुख से होता था न निवाह॥
उसके गान मन्त्र थे मोहक सदगुण गण की खान।
जिसने सुना वही उठ बैठा, दूर हुआ अज्ञान॥

[२४]

उसके गानों ने उपजाये सुदृढ़ साहसी शूर।
मिटा विरोध, समाजसे हुआ दंभ द्वेष दुख दूर॥
उसके गान जवान श्रवण कर कायरपना विसार।
होते थे स्वदेश-सेवा में मरने को तैयार॥

[२५]

जिसने भी सुन पाया उसका हृदय-विमोहक गान।
हुआ उसी का देश-प्रेम से पूरण प्लावित प्रान॥
देवी मान लोग करते थे आराधना सहर्ष।
उसे देख उनमें जगता था उन्नति का उत्कर्ष॥

[२६]

विजया ने फिर गाँव गाँव में करके मङ्गल गान।
एक भाव में भरा सभी को सुना मनोहर तान॥
विजया गई हृदय लोगों का प्रेम-सुधा से सींच।
उसके बाद युवक आ पहुँचा उन गावों के बीच॥

[२७]

उसने उन हृदयों में बोया स्वतन्त्रता का बीज।
सींचा उन हृदयों ने उसको स्वयं पसीज पसीज॥
मिलन नगर के आस पास मुनि देते थे व्याख्यान।
धर्म-स्वदेश-जाति—रक्षा को करते थे आह्वान॥

[२८]

जागे लोग, सचेत हुये सब सुन मुनि का उपदेश।
उद्यत हुये देश-रक्षा में सहने को सब क्लेश॥
किया उन्होंने एक एक का देश-प्रेममय प्रान।
होने लगा वीर-मंडल में स्वतन्त्रता का गान॥

[२९]

स्वतन्त्रता के लिये प्रजा जब उत्सुक हुई नितान्त।
तब मदांध आष्ट्रियन वृन्द ने सुन पाया वृत्तान्त॥
वे अतीव क्रोधातुर धाये दलबल सहित अपार।
करने लगे, उठे हृदयों पर भीषण अत्याचार।

[३०]

घर विजया को, पकड़ युवा को, मुनि को डालो मार।
गाँव गाँव रिपुओं ने घेरा करते हुये पुकार॥
सहते सहते प्रजा थकी थी अरि के अत्याचार।
देख कष्ट निज हितैषियों का सकी न क्रोध सँभार॥

[३१]

निकली प्रजा मिलन की घर से क्रोधित सिंह समान।
जन्मभूमि की स्वतन्त्रता में होने को बलिदान॥
आकर मिला युवक भी उनमें बढ़ा विपुल उत्साह।
हृदय हृदय में देशभक्ति का उमड़ा प्रबल प्रवाह॥

[३२]

खड़े हुये निज वैर भूल कर भाई भाई साथ।
स्वतन्त्रतादायिनी खड्ग से भूषित थे सब हाथ॥
क्रुद्ध शत्रुओं ने जब देखा प्रजा हुई उद्दंड।
दौड़े परम क्रुद्ध देने को उसे यथोचित दंड॥

[३३]

सुना पूर्वजों की गुणगाथा भर कर शौर्य अपार।
किया युवक ने सब लोगों को लड़ने को तैयार॥
बढ़े कुचलने को बैरी-गण मानो मत्त मतंग।
झपटे लोग सिंह सम, तब तो पलट गया सब ढंग॥

[३४]

लोहू गर्म हुआ वीरों का फड़क उठे सब अङ्ग।
नशा वीरता का चढ़ आया देख रक्त का रंग॥
शस्त्र-सुसज्जित शत्रु अधिक थे अल्प प्रजा बलहीन।
युवक स्वयं आहत था यद्यपि दिखता था न मलीन॥

[३५]

उखड़ रहे थे पैर प्रजा के छूट रहा था धीर।
इतने ही में मुनि आ पहुँचे लिये असंख्यक वीर॥
गरज उठे सब सिंहनाद से झपटे शत्रु सँभाल।
टिक न सके, बैरी कुछ पिछड़े सह आक्रमण कराल॥

[३६]

विजया भी भैरवी भेस में आई धर करवाल।
उसके साथ बहुत थे वे ही मंत्र-मुग्ध कंकाल॥
देख सामने विषम समस्या त्याग विजय की आस।
रिपु भयभीत प्राण-रक्षा का करने लगे प्रयास॥

[३७]

आहत युवक थक गया, तन से निकल रहा था रक्त।
था तथापि वह शत्रु-मथन में पूर्ण रूप आसक्त॥
थका देख कर इस अवसर में उठा तीक्ष्ण तलवार।
एक ओर से एक शत्रु ने किया अचानक वार॥

[३८]

युवक न वार बचा सकता था देख काल विकराल।
आगे बढ़ अपनी छाती पर ली मुनिने करवाल॥
तब तक अरि का शीश युवक ने मुड़कर लिया उतार।
पर मुनिकी गति देख बह चली आँखों से जलधार॥

[३९]

विजया ने दूसरी ओर से कर भैरव हुंकार।
मार भगाया शत्रु-वृन्द को करके कठिन प्रहार॥
आगे आगे भगे दस्युगण पागल श्वान समान।
कंकालों ने उन्हें खदेड़ा कर में लाठी तान॥

[४०]

मुनि थे अति प्रसन्न, उमड़ा था आँखों में आनन्द।
बोले, "जीवन भर में मैं हूँ आज सुखी स्वच्छन्द॥
मेरे सन्मुख आज हमारे वैरी भागे हार।
देख स्वतन्त्र मिलन को मन में है आनन्द अपार॥

[४१]

एक बार दुर्दम्य शत्रु से प्रजा गई है जीत।
तो वह सदा विजयिनी होगी, वैरी हैं भयभीत॥
तुमने अपने पूज्य पिता का माना शुभ सन्देश।
व्रत स्वदेश-सेवा का धर कर किया स्वतन्त्र स्वदेश॥

[४२]

धन्य भाग्य है, पुत्र! तुम्हारा जीवन हुआ पवित्र।
तुम से हुआ यशस्वी यश भी देख विशुद्ध चरित्र॥
अब विजया के साथ शांति सुख पाओ सुयश अतीव।
जब तुम मिले, उसी दिन वह भी थी मिल चुकी सजीव॥

[४३]

पर वह कहाँ गई, न हुआ कुछ पता आज तक ज्ञात।
यह कह मुनि ने कही युवकसे उस दिन की सब बात॥
बोले, "कभी न निष्फल होगा उसका सच्चा स्नेह।
सच्चा प्रेम पूर्ण होता है जग में निस्संदेह॥

[४४]

बेटा ! मैं हूँ पिता तुम्हारा, तुम न सके पहचान।
बचपन में ही विलग हुये थे, मेरे जीवन प्रान!
तुम विजया के साथ प्राणप्रिय ! करो लोक-कल्याण।
सुखी रहो, अब मैं करता हूँ सुखी सहर्ष प्रयाण॥

[४५]

"जय स्वदेश की" "जय स्वदेश की" पड़ा सुनाई नाद।
उसी समय मुनि ने तन त्यागा, दे शुभ आशीर्वाद॥
"हाय ! पिता," कह युवक व्यथितचित गिरकर हुआ अचेत।
धन्य पिता का प्रम दे दिया प्राण पुत्र के हेत॥

पँचवाँ परिच्छेद

[१]

वही कुटी, सुनसान वहा बन, वही दिशा, आकाश।
उदित हो रहा था प्रभात में रवि का अरुण प्रकाश॥
मूर्च्छित था विजया के उरु पर सिर रख युवक प्रबीन।
वह उसका मुख देख रही थी आशा धार नवीन॥

[२]

कुछ कुछ होने लगी युवक की मूर्च्छा अन्तर्द्धान।
तब वीणावाणी विजया ने गाया मङ्गल-गान॥
एक बार दृग खोल युवक ने पुनः कर लिया बन्द।
विमल चंदको निकट देखकर उसे हुआ आनन्द॥

[३]

जड़ चेतन की एक अकृत्रिम भाषा है ध्वनि-हीन ।
उसे बोलते हैं आपस में केवल प्रेम-प्रबीन ॥
'चंद चूम लूँ' बोला मन में जैसे ही आनंद ।
आकर लगा तुरत ओठों से मधुर सुधाधर चंद ॥

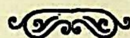
॥ इति ॥

Printed at The Belvedere Press, Allahabad, by E. Hall.



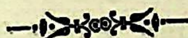
काव्य-ग्रन्थरत्न-माला—रत्न ११

झरना



लेखक

जयशंकर "प्रसाद"



प्रकाशक

साहित्य-सेवा-सदन

बुलानाला, काशी

द्वितीयावृत्ति]   अक्षय तृतीया, १९८४ वि०   [मूल्य ।=)

प्रकाशक
गयाप्रसाद शुक्ल, एम० ए०, व्यवस्थापक,
साहित्य-सेवा-सदन,
बुलानाला, काशी

मुद्रक
बजरंगबली गुप्त 'विशारद'
श्रीसीताराम प्रेस,
विश्वेश्वरगंज, काशी

समर्पण

हृदयही तुम्हें दान कर दिया।
क्षुद्र था, उसने गर्व्व किया॥
तुम्हें पाया अगाध गम्भीर।
कहाँ जल बिन्दु, कहाँ निधि नीर॥
हमारा कहो न अब क्या रहा?
तुम्हारा सब कब का हो रहा॥
तुम्हें अर्पण; औ वस्तु त्वदीय?
छीन लो छीन ममत्व मदीय॥

—oo-o-oo—

परिचय

१

उषा का प्राची में आभास ।
सरोरुह का, सर बीच विकाश ॥
कौन परिचय था ? क्या सम्बन्ध ?
"गगन मण्डल में अरुण विलास ॥"

२

रहे रजनी में कहाँ मलिन्द ?
सरोवर बीच खिला अरविन्द ॥
कौन परिचय था ? क्या सम्बन्ध ?
"मधुर मधुमय मोहन मकरन्द ॥"

३

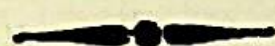
प्रफुल्लित मानस बीच सरोज ।
मलय से अनिल चला कर खोज ॥
कौन परिचय था ? क्या सम्बन्ध ?
"वही परिमल जो मिलता रोज ॥"

४

राग से अरुण, घुला मकरन्द ।
मिला परिमल से जो सानन्द ॥
वही परिचय था, वह सम्बन्ध ।
"प्रेम का, मेरा तेरा छन्द ॥"

सूचीपत्र

झरना



मधुर है स्रोत मधुर है लहरी।
न है उत्पात, छटा है छहरी॥
मनोहर झरना,
कठिन गिरि कहाँ विदारित, करना।
बात कुछ छिपी हुई है गहरी।
मधुर है स्रोत मधुर है लहरी॥

२

कल्पनातीत काल की घटना।
हृदय को लगी अचानक रटना॥
देखकर झरना,
प्रथम वर्षा से इसका भरना।
स्मरण हो रहा शैल का कटना।
कल्पनातीत काल की घटना॥

३

कर गई प्लावित तन मन सारा।
एक दिन तव अपाङ्ग की धारा॥
हृदय से झरना—
बह चला, जैसे दृगजल ढरना।
प्रणय वन्या ने किया पसारा।
कर गई प्लावित तन मन सारा॥

४

प्रेम की पवित्र परछाँई में।
लालसा हरित विटपि झाँई में॥
बह चला झरना,
ताप मय जीवन शीतल करना।
बात यह तेरी चतुराई में।
प्रेम की पवित्र परछाँई में॥

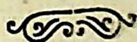


जो अपने ही में छिप जाना चाहता।
यदि साहस हो, उसे खोल कर देख लो,
मन मन्दिर में नाथ हमारी 'अर्चना'
हुई उपेक्षित तुमसे, हँसती है हमें।

स्निग्ध कामना कुसुम रचित यह मालिका—
लज्जित है; प्रियतम के गले लगी नहीं।
प्रियतम ! ऐसा ही क्या तुमको उचित था।
प्राण प्रदीप न करता है आलोक वह—

जिसमें वाञ्छित रूप तुम्हारा देख लूँ।
जीवनधन ! क्या अश्रु सलिल अभिषेक भी
तृप्त नहीं कर सका तुम्हें ! सब व्यर्थ है !
बनो न इतने निर्दय सखे ! प्रसन्न हो।

हो जावेगा जब निराश मन फिर कभी
ध्यान हमारा आवेगा, होगी व्यथा।
तो क्या क्षुब्ध न होगे तुम ?—यह सोच लो,
फिर, जैसा मन में आवे वैसा करो।



रूप

ये बङ्किम भ्रू, युगल कुटिल कुन्तल घने,
नील नलिन से नेत्र—चपल मद से भरे,
अरुण राग रञ्जित कोमल हिम खण्ड से—
सुन्दर गोल कपोल, सुढर नासा बनी,

धवल स्मित जैसे शारद घन बीच में—
(जो कि कौमुदी से रञ्जित है हो रहा)
चपला-सी है ग्रीवा हँसी से बढ़ो।
रूप जलधि में लोल लहरियाँ उठ रहीं।

मुक्तागण हैं लिपटे कोमल कम्बु में।
चञ्चल चितवन चमकीली है कर रही—
सृष्टि मात्र को, मानो पूरी स्वच्छता—
चीनांशुक बनकर लिपटी हैं अङ्ग में।

अस्तव्यस्त है वह भी ढँकले कौन सा।
अङ्ग; न जिसमें कोई दृष्टि लगे उसे।
कोमल फूलों के रस से सींचे हुए।
पंख तितिलियों के करते हैं व्यजन-से।

—०ॐ०ॐ०—

दो बूँदें

शरद का सुन्दर नीलाकाश,
निशा निखरी, था निर्मल हास।
बह रही छाया पथ में स्वच्छ
सुधा सरिता लेती उच्छ्वास॥

पुलक कर लगी देखने धरा,
प्रकृति भी सकी न आँखें मूँद।
सुशीतलकारी शशि आया,
सुधा की मनों बड़ी सी बूँद॥

× × × ×

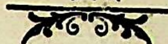
हरित किसलयमय कोमल वृत्त,
झुक रहा जिसका पाकर भार।
उसी पर रे मतवाले मधुप!
बैठकर करता तू गुञ्जार॥

न आशा कर तू अरे! अधीर,
कुसुम रज—रस से लूँगा गूँद।
फूल है नन्हा-सा-नादान,
भरा मकरन्द एक ही बूँद॥



पावस-प्रभात

नव तमाल श्यामल नीरद माला भली
श्रावण की राका रजनी में घिर चुकी।
अब उसके कुछ बचे अंश आकाश में
भूले भटके पथिक सदृश हैं घूमते॥
अर्ध रात्रि में खिली हुई थी मालती,
उस पर से जो बिछल पड़ा था वह चपल—
मलयानिल भी अस्तव्यस्त है घूमता,
उसे स्थान ही कहीं ठहरने को नहीं।
मुक्त व्योम में उड़ते उड़ते डाल से
कातर अलस पपीहा की वह ध्वनि कभी—
निकल निकल कर भूल या कि अनजान में,
लगती है खोजने किसी को प्रेम से॥
क्लान्त तारकागण की मद्यप-मण्डली,
नेत्र निमीलन करती है फिर खोलती।
रिक्त चषक-सा चन्द्र लुढ़ककर है गिरा,
रजनी के आपानक का अब अंत है॥
रजनी के रञ्जक उपकरण बिखर गये,
घूँघट खोल उषा ने झाँका और फिर।
अरुण अपाङ्गों से देखा, कुछ हँस पड़ी,
लगी टहलने प्राची प्राङ्गण में तभी॥



वसंत की प्रतीक्षा

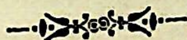
परिश्रम करता हूँ अविराम, बनाता हूँ क्यारी औ कुंज।
सींचता दृग जल से सानन्द, खिलेगा कभी मल्लिका-पुंज॥

न काँटों की है कुछ परवाह, सजा रखता हूँ इन्हें सयत्न।
कभी तो होगा इनमें फूल, सफल होगा यह कभी प्रयत्न॥

कभी मधु राका देख इसे, करेगी इठलाती मधुहास।
अचानक फूल खिल उठेंगे, कुंज होगा मलयज-आवास॥

नई कोंपल में से कोकिल, कभी किलकारेगा सानन्द।
एक क्षण बैठ हमारे पास, पिला दोगे मदिरा मकरन्द॥

मूक हो मतवाली ममता, खिलें फूलों से विश्व अनन्त।
चेतना बने अधीर मिलिन्द, आह, वह आवे विमल वसंत॥



वसंत

तू आता है, फिर जाता है।

जीवन में पुलकित प्रणय सदृश,
यौवन की पहली कांति अकृश,

जैसी हो, वह तू पाता है, हे वसंत क्यों तू आता है?

पिक अपनी कूक सुनाता है,
तू आता है फिर जाता है।

बस, खुले हृदय से करुण कथा,
बीती बातें कुछ मर्म व्यथा,

वह डाल-डाल पर जाता है, फिर तालताल पर गाता है।

मलयज मंथर गति आता है,
तू आता है फिर जाता है।

जीवन की सुख दुख आशा सब,
पतझड़ हो पूर्ण हुई है अब,

फूला रसाल मुसक्याता है, कर-किसलय हिला बुलाता है।

हे वसंत क्यों तू आता है?
तू आता है फिर जाता है।

किरण

किरण ! तुम क्यों बिखरी हो आज, रंगी हो तुम किसके अनुराग,
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान, उड़ाती हो परमाणु पराग।
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश, मधुर मुरली सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की विकल-वेदना-दूती सी तुम कौन ?

अरुण शिशुके मुख पर सविलास, सुनहली लट घुँघुराली कान्त,
नाचती हो जैसे तुम कौन ?—उषा के अञ्चल में अश्रान्त।
भला उस भोले मुख को छोड़, और चूमोगी किसका भाल,
मनोहर यह कैसा है नृत्य, कौन देता है सम पर ताल ?

कोकनद मधु धारा सी तरल, विश्व में बहती हो किस ओर ?
प्रकृति को देती परमानन्द, उठाकर सुन्दर सरस हिलोर।
स्वर्ग के सूत्र सदृश तुम कौन, मिलाती हो उससे भूलोक ?
जोड़ती हो कैसा सम्बन्ध, बना दोगी क्या विरज विशोक !

सुदिन मणि वलय विभूषित उषा—सुन्दरी के कर का संकेत—
कर रही हो तुम किसको मधुर, किसे दिखलाती प्रेम निकेत।
चपल ! ठहरो कुछ लो विश्राम, चल चुकी हो पथ शून्य अनन्त,
सुमन मन्दिर के खोलो द्वार, जगे फिर सोया वहाँ वसन्त।



विषाद

कौन, प्रकृति के करुण काव्य सा, वृक्ष पत्र की मधु छाया में।
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है, अमृत सदृश नश्वर काया में॥
अखिल विश्व के कोलाहल से, दूर सुदूर निभृत निर्जन में।
गोधूली के मलिनाञ्चल में, कौन जङ्गली बैठा वन में?

शिथिल पड़ी प्रत्यञ्चा किसकी, धनुष भग्न सब छिन्न जाल है।
वंशी नीरव पड़ी धूल में, वीणा का भी बुरा हाल है॥
किसके तममय अन्तरतम में, झिल्ली की झनकार हो रही।
स्मृति सन्नाटे से भर जाती, चपला ले विश्राम सो रही॥

किसके अन्तःकरण अजिर में, अखिल व्योम का लेकर मोती।
आँसू का बादल बन जाता, फिर तुषार की वर्षा होती!
विषय शून्य किसकी चितवन है, ठहरी पलक अलक में आलस!
किसका यह सूखा सुहाग है, छिना हुआ किसका सारा रस?

निर्झर कौन बहुत बल खाकर, बिलखाता ठुकराता फिरता?
खोज रहा है स्थान धरामें, अपने ही चरणों में गिरता॥
किसी हृदय का यह विषाद है, छेड़ो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का विश्रान्त चरण है॥

—:*:—

बालू की बेला

आँख बचाकर न किरकिरा करदो इस जीवन का मेला।
कहाँ मिलोगे ?–किसी विजन में ?–न हो भीड़ का जब रेला॥

दूर! कहाँ तक दूर? थका भरपूर चूर सब अंग हुआ।
दुर्गम पथ में विरथ दौड़कर खेल न था मैंने खेला॥

कहते हो 'कुछ दुःख नहीं', हाँ ठीक, हँसी से पूछो तुम।
प्रश्न करो टेढ़ी चितवन से, किस-किसको किसने झेला ?॥

आने दो मीठी मीड़ों से नूपुर की झनकार, रहो।
गलबाहीं दे हाथ बढ़ाओ, कह दो प्याला भर दे, ला!॥

निठुर इन्हीं चरणों में मैं रत्नाकर हृदय उलीच रहा।
पुलकित, प्लावित रहो, बनो मत सूखी बालू की बेला॥



चिन्ह

इस अनन्त पथ के कितने ही, छोड़ छोड़ विश्राम-स्थान;
आये थे हम विकल देखने, नव वसन्त का सुन्दर मान।
मानवता के निर्जन बनमें जड़ थी प्रकृति शान्त था व्योम;
तपती थी मध्याह्न किरण-सी प्राणों की गति लोम विलोम।
आशा थी परिहास कर रही स्मृति का होता था उपहास;
दूर क्षितिज में जाकर सोता था जीवन का नव उल्लास।
द्रुतगति से था दौड़ लगाता चक्कर खाता पवन हताश;
विह्वल सी थी दीन वेदना मुँह खोले मलीन अवकाश।
हृदय एक निःश्वास फेंककर खोज रहा था प्रेम-निकेत;
जीर्ण काण्ड वृक्षों के हँसकर रूखा-सा करते संकेत।
बिखर चुकी थी अम्बरतल में सौरभ की शुचितम सुख धूल;
पृथ्वी पर थे विकल लोटते शुष्क पत्र मुरझाये फूल।
गोधूली की धूसर छवि ने चित्रपटी ली सकल समेट;
निर्मल चिति का दीप जलाकर छोड़ चला यह अपनी भेंट।
मधुर आँच से गला बहावेगा शैलों से निर्झर लोक;
शान्ति सुरसरी की शीतल जल लहरी को देता आलोक।
नव यौवन की प्रेम कल्पना और विरह का तीव्र विनोद।
स्वर्ण रत्न की तरल कान्ति, शिशु का स्मित या माता की गोद।
इसके तल के तम अञ्चल में इनकी लहरों का लघु भान;
मधुर हँसी से अस्त व्यस्त हो, हो जायेगी फिर अवसान।

दीप

धूसर सन्ध्या चली आ रही थी अधिकार जमाने को,
अन्धकार अवसाद कालिमा लिये रहा बरसाने को।

गिरि संकट में जीवन-सोता मन मारे चुप बहता था,
कल कल नाद नहीं था उसमें मन की बात न कहता था।

इसे जान्हवी-सा आदर दे किसने भेंट चढ़ाया है,
अञ्चल से सस्नेह बचाकर छोटा दीप जलाया है।

जला करेगा वक्षस्थल पर वहा करेगा लहरी में,
नाचेंगी अनुरक्त बीचियाँ रञ्जित प्रभा सुनहरी में।

तट तरु की छाया फिर उसका पैर चूमने जावेगी,
सुप्त खगों की नीरव स्मृति कलरव से गान सुनावेगी।

देख नग्न सौन्दर्य प्रकृति का निर्जन में अनुरागी हो,
निज प्रकाश डालेगा जिसमें अखिल विश्व सम भागी हो।

किसी माधुरी स्मित सा होकर यह संकेत बताने को,
जला करेगा दीप, चलेगा यह सोता बह जाने को

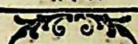


अर्चना

वीणे ! पञ्चम स्वर में बज कर मधुर मधु
बरसा दे तू स्वयं विश्व में आज तो।
उस वर्षा में भींगे जाने से भला
लौट चला आवे प्रियतम, इस भवन में।

आश्रय ले; मेरे वक्षस्थल में तनिक।
लज्जे ! जा, बस अब न सुनूँ मैं एक भी—
तेरी बातों में से; तूने दुख दिया,
रुष्ट हो गये प्रियतम, और चले गये

यह कैसा संकोच मन ! तुझे क्या हुआ !
बड़ी बड़ी अभिलाषायें इस हृदय ने
सञ्चित की थी इस छोटे भाण्डार में;
लज्जावती लता सी होकर संकुचित—

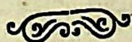


जो अपने ही में छिप जाना चाहता।
यदि साहस हो, उसे खोल कर देख लो,
मन मन्दिर में नाथ हमारी 'अर्चना'
हुई उपेक्षित तुमसे, हँसती है हमें।

स्निग्ध कामना कुसुम रचित यह मालिका—
लज्जित है; प्रियतम के गले लगी नहीं।
प्रियतम! ऐसा ही क्या तुमको उचित था।
प्राण प्रदीप न करता है आलोक वह—

जिसमें वाञ्छित रूप तुम्हारा देख लूँ।
जीवनधन! क्या अश्रु सलिल अभिषेक भी
तृप्त नहीं कर सका तुम्हें! सब व्यर्थ है!
बनो न इतने निर्दय सखे! प्रसन्न हो।

हो जावेगा जब निराश मन फिर कभी
ध्यान हमारा आवेगा, होगी दया।
तो क्या क्षुब्ध न होगे तुम?—यह सोच लो,
फिर, जैसा मन में आवे वैसा करो।



बिखरा हुआ प्रेम

अरुणोदय में चञ्चल होकर, व्याकुल होकर विकल प्रेम से,
मायामयी सुप्ति में सोकर, अति अधीर हो अर्थक्षेम से,
टुकड़े-टुकड़े कर फेंका था जीवन का निगूढ़ आनन्द,
नील-निशाके शून्य गगन में लो फैलाकर फिर छल छन्द,
बनकर तारा निकर मनोहर, उदय हुआ वह उसी नियम से।
रिक्त हुए हम व्यर्थ फेंककर, विकल हुए तम अतुल विषम से॥

प्रणयी प्रणत बनूँ मैं क्योंकर, दुर्बलता निज समझ, क्षोभ से,
जीवन मदिरा कैसे रोकर, भरूँ पात्र में तुच्छ लोभ से,
हाय! मुझे निष्किञ्चन क्यों कर डालारे! मेरे अभिमान,
वही रहा पाथेय तुम्हारे, इस अनन्त पथ का अनजान,
बूँद–बूँदसे सींचो, पर ये, भीगेंगे न सकल अणु तुम से।
खोजो अपना प्रेम सुधाकर, प्लावित हो भव शीतल हिम से॥



एक तारा

मिट चुका है जीवन का साध।
बता दो मेरा क्या अपराध?
न पूछा "दर्द कैसा है तुम्हारा"
अरे तुमने, मुझे ऐसा बिसारा!

चन्द्र-दर्शन से हुआ निराश,
तारका भी देते न प्रकाश,
न निकलो अश्रु आँखों से हमारे।
तुम्हारा ही उसे केवल सहारा॥

गा रहा हूँ बस दुख का राग,
मिल गया विराग में अनुराग,
न वीणा ही रही, वंशी कहाँ है?
हृदय मेरा हुआ है एकतारा॥

प्रेम के भँगते को दो दान,
न दो तो, करो नहीं अपमान,
हमारी दीन की लकुटी न तोड़ो।
भिखारी को रहा इसका सहारा॥

एक दिन मुझ को भी निश्शङ्क,
लगा रखते थे अपने अङ्क,
अरे निर्दय तुम्हें दुःख में पुकारा।
न पूछा हाल भी तुमने हमारा॥

कब ?

शून्य हृदय में प्रेम-जलद-माला कब फिर घिर आवेगी ?
वर्षा इन आखों से होगी, कब हरियाली छावेगी ?
रिक्त हो रही मधु से, सौरभ सूख रहा है आतप से ;
सुमन कली खिलकर कब अपनी पंखड़ियाँ बिखरावेगी ?
लम्बी विश्व कथा में सुख निद्रा समान इन आँखों में—
सरस मधुर छवि शान्त तुम्हारी कब आकर बस जावेगी ?
मन-मयूर कब नाच उठेगा कादंबिनी छटा लखकर ;
शीतल आलिंगन करने को सुरभि लहरियाँ आवेंगी ?
बढ़ उमंग सरिता आवेगी आर्द्र किये रूखी सिकता ;
सकल कामना स्रोत लीन हो पूर्ण विरति कब पावेगी ?



स्वभाव

दूर हटे रहते थे हम तो आप ही।
क्यों परिचित हो गये ?—न थे जब चाहते—
हम मिलना तुमसे। न हृदय में वेग था।
स्वयं दिखा कर सुन्दर हृदय मिला लिया
दूध और पानी–सा ; अब फिर क्या हुआ ?—
देकर जो कि खटाई फाड़ा चाहते।
भरा हुआ है नवल मेघ जल-बिन्दु से,
ऐसा पवन चलाया, क्यों बरसा दिया ?
शून्य हृदय हो गया जलद, सब प्रेम-जल—
देकर तुम्हें। न तुम कुछ भी पुलकित हुए।
मरु-धरणी-सम तुमने सब शोषित-किया।
क्या आशा थी ?-आशा–कानन को यही !
चञ्चल हृदय तुम्हारा केवल खेल था,
मेरी जीवन-मरण-समस्या हो गई।
डरते थे इसको, होते थे संकुचित—
"कभी न प्रकटित तुम स्वभाव कर दो कभी।"

असंतोष

हरित वन कुसुमित हैं द्रुम-वृन्द ;
बरसता है मलयज मकरंद ।
स्नेह मय सुधा दीप है चन्द ;
खेलता शिशु होकर आनन्द ।
क्षुद्र गृह किंतु हुआ सुख मूल ; उसी में मानव जाता भूल ।
नील नभ में शोभित विस्तार ;
प्रकृति है सुन्दर, परम उदार ।
नर हृदय, परिमित, पूरित स्वार्थ ;
बात जँचती कुछ नहीं यथार्थ ।
जहाँ सुख मिला न उससे तृप्ति ; स्वप्न सी आशा मिली सुषुप्ति ।
प्रणय की महिमा का मधु मोद,
नवल सुखमा का सरल विनोद,
विश्व गरिमा का जो था सार,
हुआ वह लघिमा का व्यापार ।
तुम्हारा मुक्तामय उपहार, हो रहा अश्रुकणों का [हार ।
भरा जी तुमको पाकर भी न ;
हो गया छिछले जल का मीन ।
विश्वभर का विश्वास अपार,
सिन्धु-सा तैर गये उस पार ।
न हो जब मुझ को ही संतोष; तुम्हारा इसमें क्या है दोष ?

अनुनय

उसी स्मृति-सौरभ में मृग-मन मस्त रहे
यही है हमारी अभिलाषा सुन लीजिये।
शीतल हृदय सदा होता रहे आँसुओं से
छिपिये उसी में मत बाहर हो भीजिये॥

हो जो अवकाश तुम्हें ध्यान कभी आवे मेरा
अहो प्राणप्यारे, तो कठोरता न कीजिये।
क्रोध से, विषाद से, दया या पूर्व प्रीति ही से,
किसी भी बहाने से तो याद किया कीजिये॥



प्रियतम !

क्यों जीवन-धन ! ऐसा ही है न्याय तुम्हारा क्या सर्वत्र ?
लिखते हुए लेखनी हिलती, कँपता जाता है यह पत्र।
औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दुःख नहीं।
जिसके तुम हो एक सहारा, वही न भूला जाय कहीं॥
निर्दय होकर अपने प्रति, अपने को तुमको सौंप दिया॥
प्रेम नहीं, करुणा करने को क्षण-भर तुमने समय दिया !
अबसे भी तो अच्छा है, अब और न मुझे करो बदनाम।
क्रीड़ा तो हो चुकी तुम्हारी, मेरा क्या होता है काम ?
स्मृति को लिये हुए अन्तर में, जीवन कर देंगे निःशेष।
छोड़ो, अब दिखलाओ मत, मिल जाने का यह लोभ विशेष॥
कुछ भी मत दो, अपना ही जो मुझे बना लो, यही करो।
रक्खो जब तक आँखों में, फिर और द्वार पर नहीं ढरो॥
कोर बरौनी का न लगे हाँ, इस कोमल मन को मेरे।
पुतली बन कर रहें चमकते, प्रियतम ! हम दृग में तेरे॥



कहो ?

शिथिल शयन सम्भोग दलित कवरी के कुसुम सदृश कैसे,
प्रतिपद व्याकुल आज छन्द क्यों होते हैं प्रियतम ! ऐसे ?
वाणी मस्त हुई अपने में, उससे कुछ न कहा जाता ;
गद्गद् कण्ठ स्वयं सुनता है जो कुछ है वह कह जाता ॥
ऊँचे चढ़े हुए वीणाके तार मधुप-से गूँज रहे,
पर्दा रखते हैं सुर पर वे मनमाने-से बोल रहे ।
जीवन-धन ! यह आज हुआ क्या बतलाओ, मत मौन रहो,
वाह्य वियोग, मिलन या मनका, इसका कारण कौन कहो ?

निवेदन

तेरा प्रेम हलाहल प्यारे, अब तो सुख से पीते हैं।
विरह-सुधा से बचे हुए हैं, मरने को हम जीते हैं॥
दौड़-दौड़ कर थका हुआ है, पड़ कर प्रेम-पिपासा में।
हृदय खूब ही भटक चुका है, मृग-मरीचिका-आशा में॥
मेरे मरुमय जीवन के हे सुधा-स्रोत! दिखला जाओ।
अपनी आँखों के आँसू से इसको भी नहला जाओ॥
डरो नहीं, जो, तुमको मेरा उपालम्भ सुनना होगा।
केवल एक तुम्हारा चुम्बन इस मुखको 'चुप' कर देगा॥



प्यास

हृदय की दारुण ज्वाला से,
　　हुए व्याकुल हम उस दिन पूर्ण।
देखतीं प्यासी आँखें थीं,
　　रस भरी आँखों को मदघूर्ण॥
प्यास बढ़ती ही जाती थी,
　　बुझाने की इच्छा थी बड़ी।
बढ़ाया तुमने प्याला था,
　　अचञ्चल चित्त हुआ उस घड़ी॥
राग रञ्जित थी वह पेया,
　　उसे पीते पीते रुक गये।
प्रश्न मेरा यह उनसे था,
　　पूछने से वे प्रमुदित हुए॥
नशीली आँखों सदृश कहो,
　　तुम्हारी ही इसमें है नशा ?
"गुलाबी हलका-सा" बोले,
　　स्तब्ध हो रही मोह की निशा॥
मौन थे सुना, प्रश्न मेरा,
　　सदा यह बनी रहेगी भली।"

कँटीला था गुलाब चैती,
उठी चटचटा उसी की कली॥
उषा आभास चन्द्रिका में,
पवन-परिमल-परिपूरित सङ्ग।
बढ़ रही थी प्राची में वह,
बदलता था नभ का कुछ ढङ्ग॥
कहा व्याकुल हो मैंने भी,
तुम्हारे कोमल कर से वही—
चाहता पीना मैं प्रियतम,
नशा जिसकी उतरे ही नहीं॥
हृदय की बात नवीन कली—
सदृश हम खोल कह चुके हाय!
फुल्ल-मल्लिका सदृश वह भी,
चुप रहे! जीवनधन मुसक्याय॥

पी ! कहाँ ?

डाल पर बोलता है पपीहा—
"हो भला प्राणधन, तुम कहाँ ?–हा !
आ मिलो हो जहाँ
पी ! कहाँ ? पी ! कहाँ ?

प्यास से मर रहे दीन चातक
क्यों बना चाहते प्राण-घातक ?
श्याम-घन ! हो कहाँ ?
पी ! कहाँ ? पी ! कहाँ ?

नभ-हृदय में घिरी मेघमाला
चंचला कर रही है उँजाला ॥
देख लूँ, हो कहाँ ?
पी ! कहाँ ? पी ! कहाँ ?

जलमयी हो रही यह धरा है।
कण्ठ फिर भी न होता हरा है ॥
प्यास में जल रहा
पी ! कहाँ ? पी ! कहाँ ?

प्यास कैसी तुम्हारी ? पपीहा !
कम न होकर बढ़ी जा रही हा !
लो, वही कह रहा—
पी ! कहाँ ? पी ! कहाँ ?

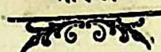
पाईबाग़

सरसों के पीले-कागज़ पर वसन्त की आज्ञा पाकर।
गिरा दिये वृक्षों ने सारे पत्ते अपने सुखला कर॥
खड़े देखते राह नये कोमल किसलय की आशा में।
परिमलपूरित पवन-कण्ठ से, लगने की अभिलाषा में॥
अतल सिंधु में लगा-लगा कर, जीवन की बेड़ी बाज़ी।
व्यर्थ लगाने को डुब्बी हाँ, होगा कौन भला राज़ी?
मिले नहीं जो वाञ्छित मुक्ता गले हार पहनाने को।
अपना गला कौन देगा यों, बस केवल मर जाने को!॥
अपना जीवन न्यौछावर कर, प्रेम लगे करने तुम से।
किस आशा पर हृदय लगावें, कहो न प्यारे, हम तुमसे॥
मलयानिल की तरह कभी आ, गले लगोगे तुम मेरे।
फिर विकसेगी उजड़ी क्यारी, क्या गुलाब की यह मेरे॥
कभी चहलक़दमी करने को, काँटों का कुछ ध्यान न कर।
अपना पाईबाग़ बना लोगे प्रिय! इस मन को आकर॥



प्रत्याशा

मन्द पवन वह रहा अँधेरी रात है।
आज अकेले निर्जन गृह में क्लान्त हो—
स्थित हूँ, प्रत्याशा में मैं तो प्राणधन !
शिथिल विपञ्ची मिली विरह-संगीत से
बजने लगी उदास पहाड़ी-रागिनी।
कहते हो—"उत्कण्ठा तेरी कपट है।"
नहीं नहीं उस धुँधले-तारे को अभी,—
आधी खुली हुई खिड़की की राह से
जीवन-धन ! मैं देख रहा हूँ सत्य ही।
दृग्गोचर होता है जो तम-व्योम में;
हिचको मत निस्सङ्ग न देख मुझे अभी।
तुमको आते देख, स्वयं हट जायँगे—



वे सब; आओ, मत संकोच करो यहाँ।
सुलभ हमारा मिलना है—कारण यही—
ध्यान हमारा नहीं तुम्हें जो हो रहा।
क्योंकि तुम्हारे हम तो करतलगत रहे
हाँ, हाँ, औरों की भी हो सम्वर्धना।
किन्तु न मेरी करो परीक्षा, प्राणधन !
होड़ लगाओ नहीं, न दो उत्तेजना।
चलने दो मलयानिल की शुचि चाल से।
हृदय हमारा नहीं हिलाने योग्य है।
चन्द्र-किरण हिम-विन्दु मधुर मकरन्द से—
बनी सुधा, रख दी है हीरक-पात्र में।
मत छलकाओ इसे, प्रेम-परिपूर्ण है।



स्वप्नलोक

स्वप्न लोक में आज जागरण के समय
प्रत्याशा की उत्कण्ठा में पूर्ण था
हृदय हमारा, फूल रहा था कुसुम सा।
देर तुम्हारे आने में थी, इसलिये
कलियों की माला विरचित की थी कि, हाँ
जबतक तुम आवोगे ये खिल जाँयगी।
ये सब खिलने लगीं, न हमको ज्ञात था।
आँख खोल देखा तो चन्द्रालोक से
रञ्जित कोमल बादल नभ में छागये,
जिस पर पवन सहारे तुम हो आरहे।
हाय कली थी एक हृदय के पास ही
माला में, वह गड़ने लगी, न खिल सकी।
मैं व्याकुल हो उठा कि तुमको अङ्क में
लेलूँ, तुमने झोरी फेकी सुमन की।
मस्त हुई आँखें सोने को जग पड़े।
सुप्त सकल उद्वेग जग पड़े मोह में॥



दर्शन

जीवन-नाव अँधेरे अन्धड़ में चली।
अद्भुत परिवर्तन यह कैसा हो गया।
निर्मल जल पर सुधा भरी है चन्द्रिका
विह्वल पड़ी मेरी छोटी सी नाव भी
वंशी की स्वर लहरी नीरव व्योम में
गूँज रही है, परिमल पूरित पवन भी
खेल रहा है, जल लहरी के सङ्ग में।
प्रकृति भरा प्याला दिखला कर व्योम में
छलकाती है, और नदी उस ओर ही
बहती है। खिड़की उस ऊँचे महल की
दूर दिखाई देती है, अब क्यों रुके
नौका मेरी, द्विगुणित गति से चल पड़ी।
किन्तु किसी के मुख की छवि किरणें बनी
रजत रज्जु सी लिपटी नौका से वहीं
बीच नदी में नाव किनारे लग गई।
उस मोहन मुख का दर्शन होने लगा॥



मिलन

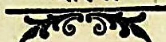
मिल गये प्रियतम हमारे मिल गये
यह अलस जीवन सफल अब हो गया।
कौन कहता है जगत है दुख मय।
यह सरस संसार सुख का सिंधु है।

इस हमारे और प्रिय के मिलन से
स्वर्ग आकर मेदिनी से मिल रहा;
कोकिलों का स्वर विपञ्ची नाद भी
चन्द्रिका, मलयजपवन, मकरन्द औ

मधुप माधविकाकुसुम से कुञ्ज में
मिल रहे, सब साज मिल कर बजरहे
आज इस हृदयाब्धि में, बस क्या कहूँ।
तुङ्ग तरल तरङ्ग ऐसी उठ रही

शीतकर शतशत उदय होने लगे।
तारकायें नील नभ में आज ये
फूल की झालर बनी हैं शोभती
गन्ध सौरभ वायुमण्डल की तहें

अन्तरिक्ष विशाल में है मिल रही।
चन्द्रकर पीयूष वर्षा कर रहा।



दृष्टि पथ में सृष्टि है अलोकमय,
विश्ववैभव से भरा यह धन्य है।

हृदय-वीणा कर रही प्रस्तार अब
तीव्र पञ्चम तान की उल्लास से।
बंसुरा पिक पा नहीं सकता कभी
इस रसोली मूर्च्छना की मत्तता।

हृदय-कोश खुला हुआ है आज तो,—
विश्व-भर ले ले महोत्सव का मजा॥
आज बस, आनन्द ही आनन्द है।
मिल गये मोहन हमारे मिल गये॥



आशालता

१

तुम्हारी करुणा ने प्राणेश ?
बना करके मनमोहन वेश ॥
दीनता को अपनाया,
उसी से स्नेह बढ़ाया;
लता अज्ञात बढ़ चली साथ ।
मिला था करुणा का शुभ हाथ ॥

२

नित्य की सन्ध्या और प्रभात ।
स्वर्ण मय जब होता रविगात ॥
व्योम ने रङ्ग खिलाया,
विश्व ने व्यर्थ नहाया;
स्वर्णघट में जल भरकर कान्त ।
दीनता छली थी अश्रान्त ॥

३

दया का स्पर्श मात्र अभिराम।
बनाता उसे सुरभि का धाम॥
उसी जल से सिंचवाया,
मधुप गण को बुलवाया;
निछावर करते थे जो प्राण।
बिना फूलों की पाये त्राण॥

४

बहुत दिन तक सिञ्चन का कार्य्य।
हुआ करता अविरल अनिवार्य्य॥
युगल ही अंकुर आया,
लता ने और न पाया;
गई करुणा भी इक दिन ऊब।
कहा अनखा कर उसने खूब॥

५

"तुम्हारी आशालता सिचाँव।
बहुत खे चुकी, न देती दाँव॥
सींचकर क्या फल पाया,
फूल भी हाथ न आया"
नील नीरद माला सी दृष्टि॥
दीनता की, करती थी सृष्टि।

सुधासिञ्चन

बहुत दिन से था हृदय निराश,
रहा अब तो है समय नहीं।
लगाऊँगा छाती से आज,
सुनो प्रियतम! अब तुम्हें यहीं॥
मचलता है यह मन, जो प्राण!
सम्हालूँगा मैं इसे नहीं।
कहे देता हूँ दूँगा छोड़—
भाग्य पर, इसको जाय कहीं॥
तुम्हारा शीतल सुख—परिरम्भ,
मिलेगा और न मुझे कहीं।
विश्व भर का भी हो व्यवधान,
आज वह बाल बराबर नहीं॥
स्फूर्ति से बदले सारी क्लान्ति।
शान्ति में भ्रान्ति न रहे कहीं।
हृदय-वात मलयज से खिल जाय,
सुमन भी समता पावे नहीं॥
रागिनी गावे तुङ्ग तरंग,
लहर ले हृदय पयोधि यहीं।
घटा से निकले बस नवचन्द्र,
सुधा से सींची जाय मही॥

तुम !

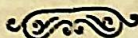
जीवन जगत के, विकास विश्व वेद के हो,
परम प्रकाश हो, स्वयं ही पूर्ण काम हो;
विधि के विरोध हो, निषेध की व्यवस्था तुम,
खेद भय रहित, अभेद, अभिराम हो।
कारण तुम्हीं थे, अब कर्म हो रहे हो तुम्हीं,
धर्म कृषि मर्म के नवीन घनश्याम हो,
रमणीय आप महामोदमय धाम, तो भी
रोम रोम रम रहे, कैसे तुम राम हो ?
बुद्धि के, विवेक के, या ज्ञान, अनुमान के भी
आये जो पतंग तुम्हें देखने, चले गये;
बलिहारी माधुरी अनंत कमनीयता की,
रूपवाले लोटने को पैरों के तले गये।
शंका लगी होने किसी को, तो कोई सपने सा
जपने लगा है आप भूल में जले गये;
छलने के लिये तो सवाँग बहुरूपिए के
तुमने लिए अनेक तुमही छले गये।
सुमन समूहों में सुहास करता है कौन,
मुकुलों में कौन मकरंद सा अनूप है;
मृदु मलयानिलसा माधुरी उषा में कौन,
स्पर्श करता है हिमकाल में ज्यों धूप है।

मान है तुम्हारा, अभिमान है हमारा, यह
"नहीं नहीं" करना भी "हाँ" का प्रतिरूप है;
घूँघट की ओट में छिपा है भला कैसे कभी,
फूटकर निखर बिखरता जो रूप है।
होकर अतृप्त तुम्हें देखने को नित्य नया
रूप दिये देता हूँ पुराना छोड़ने के लिये;
तुम्हें भी न होता परितोष कभी मेरी जान,
बनते ही जाते हो रहस्य जोड़ने के लिये।
कंज कामना की आँखें आलस से बंद सोई
चंद उपहारों से भी मुँह मोड़ने के लिये:
बंधन में बँधता प्रतिज्ञा की प्रतीति किए,
तुम हँस देते, बस, उसे तोड़ने के लिये।
दीन दुखियों को देख आतुर अधीर अति
करुणा के साथ उनके भी कभी रोते चलो;
थके श्रमी जीवों के पसीने भरे सीने लग
जीने को सफल करने के लिये सोते चलो।
भूले, भोले बालकों के इस विश्व खेल में भी
लीला ही से हार और श्रम सब खोते चलो;
सुखी कर विश्व, भरे स्मित सुखमा से मुख
सेवा सबकी हो, तो प्रसन्न तुम होते चलो।



हृदय का सौंदर्य

नदी की विस्तृत बेला शांत,
अरुण मंडल का स्वर्ण विलास;
निशा का नीरव चन्द्र-विनोद,
कुसुम का हँसते हुए विकास।
एक से एक मनोहर दृश्य,
प्रकृति की क्रीड़ा के सब छंद;
सृष्टि में सब कुछ है अभिराम,
सभी में है उन्नति या ह्रास।
बना लो अपना हृदय प्रशांत,
तनिक तब देखो वह सौंदर्य;
चन्द्रिका से उज्वल आलोक,
मल्लिका सा मोहन मृदुहास।
अरुण हो सकल विश्व अनुराग,
करुण हो निर्दय मानव चित्त;
उठे मधुलहरी मानस में,
कूल पर मलयज का हो वास।



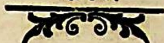
प्रार्थना

देख, लो अपनी आँखों से,
दृश्य रमणीय रूप का आज।
प्राणधन ! सच तुमको सौगंद
तुम्हारा यह अभिनव है साज॥
उषा सौंदर्यमयी मधु-कांति,
अरुण-यौवन का उदय विशेष।
सहज-सुषमा मदिरा से मत्त,
अहा ! कैसा नैसर्गिक वेश !
देखकर जिसे एक ही बार,
हो गए हम भी हैं अनुरक्त।
देख लो तुम भी यदि निज रूप,
तुम्हीं हो जाओगे आसक्त !
दृष्टि फिर गई तुम्हारी, किया—
सृष्टि ने मधु-धारा में स्नान।
बह चली मंदाकिनी मरन्द—
भरी, करती कोमल कल गान॥
प्रार्थना अंतर की मेरी—
यही जन्मान्तर की हो उक्ति।
"जन्म हो, निरखूँ तव सौंदर्य
मिले इंगित से जीवन्मुक्ति"

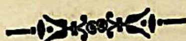
होली की रात

बरसते हो तारों के फूल ।
छिपे तुम नील पटी में कौन ॥
उड़ रही है सौरभ की धूल ।
कोकिला कैसे रहती मौन ॥
चाँदनी धुली हुई है आज ।
बिछलते हैं तितली के पंख ॥
सम्हलकर, मिलकर बजते साज ।
मधुर उठती हैं तान असंख ॥

तरल हीरक लहराता शान्त ।
सरल आशा सा पूरित ताल ॥
सिताबी छिड़क रहा विधु कान्त ।
बिछा है सेज कमलिनी जाल ॥
पिये, गाते मनमाने गीत ।
टोलियाँ मधुपों की अविराम ॥



चली आतीं, कर रहीं अभीत।
कुमुद पर बरजोरी विश्राम॥
उड़ा दो मत गुलाल सी हाय।
अरे अभिलाषाओं की धूल॥
और ही रंग नहीं लग जाय।
मधुर मंजरियाँ जावें भूल॥
विश्व में ऐसा शीतल खेल।
हृदय में जलन रहे, क्या बात!
स्नेह से जलती होली झेल।
बनाली हाँ, होली की रात॥



झील में

झील में झाईं पड़ती थी,
श्याम-वनशाली तट की कान्त
चन्द्रमा नभ में हँसता था,
बज रही थी वीणा अश्रान्त॥
तृप्ति में आशा बढ़ती थी,
चन्द्रिका में मिलता था ध्वान्त॥
गगन में सुमन खिल रहे थे,
मुग्ध हो प्रकृति स्तब्ध थी शान्त॥
निभृत था—पर हम दोनों थे
वृत्तियाँ रह न सकीं फिर दान्त।
कहा जब व्याकुल हो उनसे—
"मिलेगा कब ऐसा एकान्त ?"
हाथ में हाथ लिया मैंने
हुए वे सहसा शिथिल नितान्त।
मलय ताड़ित किसलय कोमल
हिल उठी उंगली, देखा; भ्रान्त॥
झील, झाईं, नभ, शशि, तारा,
विटप इंगित करते अश्रान्त।
तारका तरल झलकते थे,
अष्टमी के शारदशशि प्रान्त॥

रत्न

मिल गया था पथ में वह रत्न।
किन्तु हमने फिर किया न यत्न॥
पहल न उसमें था बना,
चढ़ा न रहा खराद।
स्वाभाविकता में छिपा,
न था कलङ्क विषाद॥
चमक थी, न थी तड़प की झोंक।
रहा केवल मधु स्निग्धालोक॥

मूल्य था मुझे नहीं मालूम।
किन्तु मन लेता उसको चूम॥
उसे दिखाने के लिये,
उठता हृदय कचोट।
और रुके रहते सभय,
करे न कोई चोट॥
बिना समझेही रखदे मूल्य।
न था जिस मणि के कोई तुल्य॥

जान कर के भी उसे अमोल।
बढ़ा कौतूहल का फिर तोल॥
मन आग्रह करने लगा,
लगा पूछने दाम।
चला अँकाने के लिए,
वह लोभी बे काम॥
पहन कर किया नहीं व्यवहार।
बनाया नहीं गले का हार॥



कुछ नहीं

हँसी आती है मुझ को तभी,
जब कि यह कहता कोई कहीं—
अरे सच, वह तो है कंगाल,
अमुक धन उसके पास नहीं।

सकल निधियों का वह आधार,
प्रमाता अखिल विश्व का सत्य,
लिये सब उसके बैठा पास
उसे आवश्यकता ही नहीं।

और तुम लेके फेंकी वस्तु,
गर्व करते हो मन में तुच्छ,
कभी जब ले लेगा वह उसे
तुम्हारा तब सब होगा नहीं।

तुम्हीं तब हो जाओगे दीन,
और जिसका सब संचित किए;
साथ बैठा है दीनानाथ,
उसे फिर कमी कहाँ की रही?

शांत रत्नाकर का नाविक,
गुप्त निधियों का रक्षक यक्ष,
कर रहा वह देखो मृदु हास,
और तुम कहते हो कुछ नहीं।

आदेश

कौन कहता है कानों में,
किसी का कहना तू मत मान।
अन्ध विश्वास दिलाते वे,
इसी में बनते हैं विद्वान॥
शुद्ध मानस की लहरी लोल,
पंक्तियाँ पावन लिखी विचित्र।
छोड़ ममता पढ़ ले इसको,
यही है शुभ आदेश महान॥
तोड़ कर बाधा बन्धन भेद,
भूल जा अहिमित का यह स्वार्थ।
सुधा भर ले जीवन घट में,
द्वन्द्व का विष मत करना पान॥
प्रार्थना और तपस्या क्यों?
पुजारी किसको है यह भक्ति।
डरा है तू निज पापों से,
इसी से करता निज अपमान॥
दुखी पर करुणा क्षण भर हो,
प्रार्थना पहरोंके बदले।
हमें विश्वास है कि वह सत्य,
करेगा आकर तव सम्मान॥

देवबाला

दूर कृत्रिमते ! यहाँ मत आ री,
यहाँ एकत्रित सरलता सारी ।
न छूना इसको नव कुहक शीला,
चञ्चले ! यह तो विमल विधु लीला ॥
सात रंगों का इन्द्र धनु क्या है,
छिपेगा क्षण में कभी ठहरा है ।
नई कोंपल पर किरण माला सी,
खेलती है यह देव बालासी ।
सुवासित जल भी बिगड़ जाता है,
सुमन सौरभ क्या न उड़ जाता है ।
शिशिर बूँदों में चमक रहती है,
ताप रवि-कर का न सह सकती है ।
सुरसरी की यह विमल धारा है,
स्नेह नभ की यह नवल तारा है ।
शील निधि का यह सुघर मोती है,
मधुरिमा इतनी कहाँ होती है?

कसौटी

तिरस्कार कालिमा कलित है,
अविश्वास-सी पिच्छल है।
कौन कसौटी पर ठहरेगा?
किसमें प्रचुर मनोबल है?
तपा चुके हो विरह-वह्नि में,
काम जँचाने का न इसे।
शुद्ध सुवर्ण हृदय है प्रियतम!
तुमको शंका केवल है॥
बिका हुआ है जीवन-धन यह
कब का तेरे हाथों में।
बेदामों का, है अमूल्य यह
ले लो इसे, नहीं छल है॥
कृपा कटाक्ष अलं है केवल,
कोरदार या कोमल हो।
कट जावे तो सुख पावेगा,
बार-बार यह विह्वल है॥
सादा कर ला बात मान लो,
फिर पीछे पछता लेना।
खरी वस्तु है, कहीं न इसमें,
बाल बराबर भी दल है॥

अतिथि

हृदय-गुफा थी शून्य,
रहा घोर सूना।
इसे वसाऊँ शीघ्र,
बढ़ा मन दूना॥
अतिथि आ गया एक,
नहीं पहचाना।
हुए नहीं पद-शब्द,
न मैंने जाना॥
हुआ बड़ा आनन्द,
बसा घर मेरा।
मनको मिला विनोद,
कर लिया घेरा॥
उसको कहते "प्रेम"
अरे अब जाना।
लगे कठिन नख-रेख,
तभी पहचाना॥
अतिथि रहा वह किन्तु,
न घर बाहर था।
लगा खेलने खेल,
अरे, नाहर था॥

सुधा में गरल

१

सुधा में मिला दिया क्यों गरल।
पिलाया तुमने कैसा तरल॥
माँगा होकर दीन,
कंठ सीचने के लिये;
गर्म्म झील का मीन,
निर्दय, तुमने कर दिया॥
सुना था तुम हो सुन्दर! सरल।
सुधा में मिला दिया क्यों गरल॥

२

राग रंजित सन्ध्या हो चली।
कुमुदिनी मुकुलित हो कुछ खिली॥
तारागण नभ प्रान्त,
क्षितिज छोर में चन्द्र था।
फैला कोमल ध्वान्त,
दीपक जल कर बुझ गये।
हमें जाने की आज्ञा मिली।
राग रञ्जित सन्ध्या हो चली॥

३

विजन वन, आधी रजनी गई।
मधुर मुरली ध्वनि चुप हो गई॥
थी मुझको अज्ञात,
शुक्ल पक्ष की अष्टमी,
बीते कैसे रात,
अस्त हो गई कौमुदी—
राह में ही; यह भी है नई।
विजन वन आधी रजनी गई॥



उपेक्षा करना

किसी पर मरना यही तो दुःख है!
'उपेक्षा करना' मुझे भी सुख है;
यही प्रार्थना हमारी।

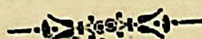
हमारे उर में न सुख पावोगे;
मिला है किसको कहाँ जावोगे?
चपल यह चाल तुम्हारी।।

स्वच्छ आलोकित दीप बलता है,
दंशयुत कीड़ा सतत जलता है;
वही है दशा हमारी।

मोह या बदला! कौन कह सकता।।
प्रेम या पीड़ा! कौन सह सकता;
न हो वह दशा तुम्हारी।।

जलन छाती की बड़ी सहता हूँ,
मिलो मत मुझसे यही कहता हूँ;
बड़ी हो दया तुम्हारी।

तुम रहो शीतल हमें जलने दो,
तमाशा देखो हाथ मलने दो;
तुम्हें है शपथ हमारी।।



वेदने, ठहरो!

सुखद थी पीड़ा, हृदय की क्रीड़ा
प्राण में भरी भयानक भक्ति।
मनोहर मुख था, न मुझ को दुःख था;
रही विप्रयोग में न विरक्ति॥
वेदना मिलती, औषधी घुलती।
मिलन का स्वप्न कराता भान॥
नवल निद्रा का, मधुर तन्द्रा का
व्यथा आरम्भ; वहीं अवसान॥
न मुझसे अड़ना, कहाँ का लड़ना;
प्राण है केवल मेरा अस्त्र।
वेदने, ठहरो! कलह तुम न करो;
नहीं तो कर दूँगा निश्शस्त्र॥



धूल का खेल

१

धूप थी कड़ी पवन था उष्ण;
धूलि की भी थी कमी नहीं।
भूल कर विश्व, खेल में व्यस्त;
रहे हम उस दिन कभी कहीं॥

२

विमल सम्भोग, न वह कथनीय;
न बाधा उसमें कहीं रही।
न था उद्देश्य, न था परिणाम;
मिलेगा वह आनन्द कहीं॥

३

शरद की शान्त नदी जलखेल;
सदृश होता अनुभूत वही।
खेल की नाव, जहाँ ले जाय;
रुकावट तो थी कहीं नहीं॥

४

प्रलोभन पुञ्ज, समादर सहित;
दिये थे तुमने कौन नहीं।
अङ्क में लिया, वक्ष था शीत;
तुम्हारा हिम से बढ़ा कहीं॥

५

उष्ण निश्वास, हुआ सहसा;
तुम्हारा, पहले रहा नहीं॥
तुम्हारी गोद, न अच्छी लगी;
उतरने को मचला तबही॥

६

धूल का खेल, लगे खेलने;
किन्तु वह क्रीड़ा ही न रही।
बोझ हो गया, सरल आनन्द;
मिलेगा फिर अब हमें कहीं?



विन्दु !

रे मन !

न कर तू कभी दूर का प्रेम ।

निष्ठुर ही रहना, अच्छा है, यही करेगा क्षेम ॥

देख न,

यह पतझड़ वसन्त एकत्रित मिला हुआ संसार ।

किसी तरह से उदासीन ही कट जाना उपकार ॥

या फिर,

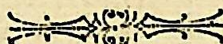
जिसे चाह तू, उसे न कर आँखों से कुछ भी दूर ।

मिल रहे मन मन से, छाती छाती से भरपूर ॥

लेकिन,

परदेशी की प्रीति उपजती अनायास ही आय ।

नाहर नख से हृदय लड़ाना, और कहूँ क्या हाय ?



C. M. V. Sharma

बिन्दु

आज इस घन की अँधियारी में,
कौन तमाल झूमता है इस सजी सुमन-क्यारी में ?
हँस कर बिजली-सी चमका कर हमको कौन रुलाता,
बरस रहे हैं ये दोनों दृग कैसे हरियारी में !

हृदय में छिपे रहे इस डर से,
उसको भी तो छिपा लिया था, नहीं प्रेम रस बरसे।
लगे न स्नेह कभी इसको भी विछल पड़े न सुपथ से॥
मुक्त आवरण हो देखे न मनोहर कोई रथ से।
पर कैसी अपरूप छटा लेकर आये तुम प्यारे॥
हृदय हुआ अधिकृत अब तुमसे, तुम जीते हम हारे।

सुमन, तुम कली बने रह जाओ,
ये भौंरे केवल रस-लोभी इन्हें न पास बुलाओ।
हवा लगी बस, झटपट अपना हृदय खोल दिखलाते॥
फूले जाते किस आशा पर कहो न क्या फल पाते ?
मधुर गन्धमय स्वच्छ कुसुम-रस क्यों बरबस हो खोते।
कितनों ही को देखो तुम-सा, हँसते हैं फिर रोते॥
सूखी पखुड़ियों को देखो, इन्हें भूल मत जाओ!
खिला विकसने का प्रसाद यह, सोचो मन में लाओ॥

बिन्दु

अभा को करिये सुन्दर राका,
फैले नव प्रकाश जीवनधन ! तब मुख-चन्द्र-विभा का ॥
मेरे अन्तर में छिप कर भी प्रकटे मुख सुखमा का ।
प्रबल प्रभंजन मलय-मरुत हो, फहरे प्रेम-पताका ॥

आया देखो विमल वसन्त,
समय सुहाया कैसा आया सुन्दर तर श्रीमन्त ।
मन रसाल की मुकुल-माल जीवन धन, कैसी आज ।
कोमल बनी, अहा ! देखो तो अच्छा बना समाज ॥
मलयानिल पर बैठे आओ धीरे धीरे नाथ ।
हँसते आओ सुमन सभी खिल जाएँ जिसके साथ ॥
मत झुकना, हम स्वयं खड़े हैं माला लेकर राज ।
कोकिल प्राण पञ्चमी स्वर-लहरी में गाता आज ॥